ज्ञान के अगाध सागर से चुने गये और 'जिनवाणी' जैसी रम्य पेटिका मे सँजोये गये ये मोती—ये अनमोल बोल, जिनमे जैनधर्म, दर्शन और आचार-सहिता का सार गर्भित है, जिनका स्पर्श पाते ही आत्मा को जन्म-जन्मान्तर से आच्छादित किये रहने वाली अन्धकार की परतें अनायास खुलने लगती हैं, जिनकी आभा से हमारा अन्तर्जगत् दैदीप्यमान हो उठता है, भगवान् महावीर के पच्चीस सौवे निर्वाण महोत्सव वर्ष की पुण्य स्मृति मे पाठको को सादर समर्पित है। सकलन-कर्त्ता हैं श्रद्धेय स्व० डॉ० हीरालाल जैन।

ये बोल कितने उपादेय हैं यह जिन-वाणी के उपासक अध्येता ही निर्णय करेंगे।।

प्रधान सम्पादकीय

जैन साहित्य बहुत विशाल है। जन साधारणकी तो बात ही क्या, विद्वानोके लिए भी उसके सर्वांगका आलोडन करना दुष्कर है। तथा आजके बहुधन्धी समयमें मनुष्योके पास इतना समय भी नही है कि वे उसके आलोडनमें विशेष समय दे सकें। इसके साथ आजका जन-समाज पहले जैसा पूर्वाग्रही नही है वह सत्यको जाननेके लिए उत्सुक है। इसके सिवाय आज जन-समाजमें बढते हुए भौतिकतावादने भी उसे त्रस्त किया है। बढती हुई भोगवृत्तिका यह परिणाम ज्यो-ज्यो प्रकट होगा त्यो-त्यो मानव शान्तिकी खोजमें लगेगा। यह शान्ति उसे भारतके प्राचीन महापुरुषोके द्वारा आत्मसाधनासे प्राप्त हुए उस सत्यमें ही मिल सकती है जिसे धर्म कहते हे।

यद्यपि आज धर्मोंकी विविधता और धर्मके नामपर किये जानेवाले असत्कार्योको देखकर धर्मके नामसे ही अरुचि पैदा हो गयी है तथापि धर्मका अन्तस्तल बुरा नही है। यदि कोई साधुका वेष धारण करके उसका दुरुपयोग करता है तो साधुपदको बुरा नही कहा जा सकता। उसी तरह धर्मका वास्तविक रूप कभी भी बुरा नही हो सकता। वास्तवमे तो आत्माका स्वभाव ही सच्चा धर्म है। क्या आत्मा अपने स्वभावको जानने और उसे प्राप्त करनेसे विमुख रह सकता है। शराबी तभी तक मदहोश रहता है जबतक उसपर नशेका प्रभाव रहता है। नशा दूर होते ही उसकी सुधबुध ठीक हो जाती है। उसी तरह ससार-का प्राणी भी अपनी करनीके नशेमें मदमस्त होकर अपनेको भूला है। वह अपना जन्म-मरण, रोग-शोक देखकर आकुल होता है। वह नही जानता कि यह इस शरीरके साथ सम्बद्ध है। शरीरके जन्मको आत्माका जन्म, शरीरके छूटनेको आत्माका मरण, शरीरसे सम्बद्ध व्यक्तियोको अपना कुटुम्बी आदि मानना ही भ्रम है। जबतक यह भ्रम दूर नही होता तबतक आत्माका कष्टोसे उद्धार नही हो सकता। इसी सत्यका ज्ञान करानेके लिए धर्मज्ञान आवश्यक है।

जैनधर्म भारतके प्राचीन धर्मोंमें-से है। उसके उपदेष्टा वे महापुरुष थे जो कभी हम लोगो की तरह ही ससारमें भटकते थे। किन्तु अपने पुरुषार्थके बलपर जिन्होने, अपने वास्तविक स्वरूपको समझा और उसे प्राप्त करके निष्काम भावसे जनताके सामने रखा। उनके ज्ञान-विज्ञान और आचार विषयक विपुल साहित्य-का अवगाहन करके जैन साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् स्व डॉ हीरालाल जैनने जिन-वाणीके नामसे यह सकलन तैयार करके रखा था। उसका हिन्दी अनुवाद भी उन्होने कर रखा था। किन्तु उनके जीवनमें उसका प्रकाशन न हो सका।

जिन-वाणी

संकलन-अनुवाद

डॉ. हीरालाल जैन

एम. ए., डी. लिट्.

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर निर्वाण संवत् २५०१, विक्रम संवत् २०३१, सन् १९७५ ईसवी

प्रथम संस्करण — मूल्य . बारह रुपये

जो कोई अपने धार्मिक मार्गको छोडकर कुमार्गगामी होनेवालेको पुन धर्ममार्गमे स्थापित करता है उसको स्थितिकरण गुणयुक्त सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए ॥५२॥

जो कोई मोक्षमार्गपर चलनेवाले आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनो प्रकारके मुनियोंके प्रति वात्सल्य भाव रखता है उसे वात्सल्य भावयुक्त सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए ॥५३॥

जो जीव विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर मनोरथ रूपी मार्गोमे भ्रमण करता है और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिये गये ज्ञानका प्रचार करता है उसे प्रभावना गुणयुक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ॥५४॥

वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दान-दक्षता, सन्मार्ग, गुणोकी प्रशसा, धार्मिकोकी सुरक्षा तथा आर्जव भाव और मोहसे मुक्ति इन लक्षणोंसे ही समझना चाहिए कि वह जीव जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट सम्यक्त्वका सच्चा आराधक है ॥५५-५६॥

इस प्रकारके परिणामोंसे युक्त जीवको ही तीर्थंकरोने सम्यग्दृष्टि कहा है। ऐसा ही जीव इस भव-समुद्रको थोड़े ही कालमे लाँघकर पार हो जाता है ॥५७॥

जिस प्रकार समस्त तारोमे चन्द्र श्रेष्ठ है व समस्त पशु समूहोमे मृगराज सिंह श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार मुनि और श्रावक इन दोनो प्रकारके धर्मोमे सम्यक्त्व श्रेष्ठ होता है ॥५८॥

इस प्रकार गुण-दोषोको जानकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको भावना सहित धारण करना चाहिए क्योकि वही गुणरूपी रत्नोका सार है और मोक्षकी प्रथम सीढी है ॥५९॥

अपनी शक्ति अनुसार व्रतोका पालन करना और जिसके पालनकी शक्ति न हो उसमे श्रद्धान रखना इसे ही केवलज्ञानी जिनमुनियोने श्रद्धाशील भव्य जीवोका सम्यक्त्व कहा है ॥६०॥

जिन्होने समस्त पदार्थोको भले प्रकार जान लिया और जो समस्त बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियोको छोडकर विषयोमे निरासक्त हो जाते हैं उन्हे ही शुद्धात्म कहा गया है ॥६१॥

शुद्धके ही श्रमण भाव कहा गया है, शुद्धके ही दर्शन और ज्ञान माने गये हैं और शुद्धका ही निर्वाण सुनिश्चित है। ऐसे सिद्ध पुरुषको हमारा नमस्कार है ॥६२॥

J A-VĀ

Compiled and Translated by

Hira Lal Jain
M A, D. Litt

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VIRA NIRVANA SAMVAT 2501,
VIKRAMA SAMVAT 2031, 1975 A. D
First Edition : Price Rs 12.00

धम्मज्जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं गरहं णाभिगच्छइ ॥८२॥

मणो-गयं वक्क-गयं जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ॥८३॥

वित्ते अचोइए णिच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहो वइट्ठं सुकयं किच्चाइं कुव्वई सया ॥८४॥

णच्चा णयइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाण सरणं भूयाणं जगई जहा ॥८५॥

पुज्जा जस्स पसीयंति संबुद्धा पुव्व-संथुया।
पसण्णा लाभइस्संति विउलं अट्ठियं सुयं ॥८६॥

अह पंचहि ठाणेहिं जेहिं सिक्खा ण लब्भइ।
थभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण य ॥८७॥

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खा-सीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया-दंते ण य मम्ममुदाहरे ॥८८॥

णासीले ण विसीले य ण सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्च-रए सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥८९॥

अह चोद्दसेहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ सजए।
अविणीए वुच्चई सो उ णिव्वाणं च ण गच्छइ ॥९०॥

अभिक्खण कोही हवइ पबंधं च पकुव्वइ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुय लद्धूण मज्जइ ॥९१॥

अवि पाव-परिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पइ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावयं ॥९२॥

पइण्ण-वाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असविभागी अवियत्ते अविणीए त्ति वुच्चइ ॥९३॥

प्रस्तुति

भगवान् महावीरके वचनोपर आधारित अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक गाथाओके इस संकलनकी दो विशेषताएँ हैं। इन विशेपताओका सार इस प्रश्नके उत्तरमें है कि सकलनका शीर्षक क्या है तथा संकलनकर्ता कौन है? शीर्षक है 'जिनवाणी'—अर्थात् जैनधर्मकी सयम सम्बन्धी शिक्षाएँ और दार्शनिक सिद्धान्तो-की मूल उद्भावनाएँ। सार रूपमे सब कुछ। और, सकलन-कर्ता है स्वर्गीय डॉ हीरालाल जैन जो जैन वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान्, अध्येता और अध्यापक थे। आधुनिक युगमें जैन-ज्ञानके अध्ययन और अनुसन्धानको वैज्ञानिक आधार देने-वालोमें वे मूर्धन्यतम थे। साहित्य, दर्शन, कला, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक विवेचन और मौलिक चिन्तन, सभीमें उनकी प्रतिभाने नये-नये आयामोका उद्घाटन किया। जैन-ज्ञानकी पुजीभूत रत्न-राशिमें-से चुन-चुनकर जिन मणि-माणिक्योकी माला डॉ हीरालालजीने तैयार की थी, वह उनके जीवन-कालमें प्रकाशमें शायद इसलिए नही आयी कि इसके प्रत्यक्ष होने की समुचित काल-लब्धि भगवान् महावीरकी पुण्य-पर्चविंशति शती ही होनी थी। लेकिन, अब जब महोत्सव वर्ष आया तो डॉक्टर साहब हमारे बीच नहीं रहे। जिनवाणीकी इस मुक्ता-मालाका अब दुगुना महत्त्व हो गया है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे डॉ हीरालाल जैनके प्रति हमारा आभार-प्रदर्शन है कि उन्होने ज्ञानपीठकी स्थापनाके दिनसे डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येके सह-सम्पादकत्वमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाका सम्पादन-दायित्व निभाया। दूसरी ओर डॉक्टर हीरालालजीकी ओरसे उनकी यह श्रद्धाजलि भगवान् महावीरके २५००वें निर्वाण महोत्सवके पावन अवसरकी स्मृतिमें समर्पित है। इस प्रकार उनकी और निर्वाण महोत्सव को स्मृति इस प्रकाशन के साथ सम्बद्ध है।

'जिनवाणी'मे सकलित गाथाओका हिन्दी अनुवाद स्वय डॉ हीरालालजीने किया है। इसलिए अनुवाद न केवल प्रामाणिक है, अपितु प्राकृत गाथाओके मूल-शब्दोका सस्कृत-रूप और उनका हिन्दी पर्याय स्पष्ट होता चला गया है। यत्र-तत्र विशेषार्थ द्वारा तात्त्विक भाव स्पष्ट किया गया है। जैनदर्शनकी मौलिक उद्भावनाओको, दर्शन, ज्ञान और चारित्रके अन्तर्गत आनेवाले सिद्धान्तोको

ज्ञानवान् पुरुषोने जैसा धार्मिक व्यवहार किया है वैसा ही वह करे। धार्मिक व्यवहार करता हुआ पुरुष कभी भी निन्दाको प्राप्त नही करता ॥८२॥

आचार्यके मनका भाव जानकर अथवा उनका वचन सुनकर सुशिष्य-को उसे वाणी द्वारा स्वीकार कर कार्य द्वारा उसे आचरणमे लाना चाहिए ॥८३॥

विनीत साधक प्रेरणा बिना ही प्रेरित होता है, उधर आज्ञा हुई और इधर काम पूरा हुआ ऐसी तत्परताके साथ वह सदैव अपने कर्तव्य करता रहता है ॥८४॥

शिक्षा सम्बन्धी उपरोक्त नियमोको जानकर जो बुद्धिमान् शिष्य विनय धारण करता है उसका यश लोकमे फैलता है। और जैसे यह पृथ्वी प्राणिमात्रकी आधार है वैसे ही वह विनयी शिष्य आचार्योका आधारभूत होकर रहता है ॥८५॥

सच्चे ज्ञानी और शास्त्रज्ञ पूज्य पुरुष जब शिष्यपर प्रसन्न होते है तव उसे शास्त्रके गम्भीर रहस्य समझाते हैं ॥८६॥

जिन पाँच स्थानोसे ज्ञानकी प्राप्ति नही हो सकती उनके नाम ये हैं—मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ॥८७॥

पुन पुन हास्य क्रीड़ा न करनेवाला, सदा इन्द्रियोका दमन करनेवाला, किसीके छिद्र दोष न देखनेवाला, सदाचारी, अनाचार न करनेवाला, मर्यादित, अलोलुपी, अक्रोधी, सत्याग्रही ऐसे पुरुषको ही सच्चा ज्ञानी कहते हैं। शिक्षाशीलके उपरोक्त आठ गुण है ॥८८-८९॥

निम्नलिखित चौदह स्थानोमे रहनेवाला सयमी अविनीत अज्ञानी कहा जाता है और वह कभी मुक्ति नही पा सकता ॥९०॥

अविनीत शिष्यके वे चौदह स्थान इस प्रकार हैं—१ जो बारम्बार कोप करता है, २ प्रबन्ध विश्वास भग या विघ्न-बाधा करता है, ३ मित्र-भाव करके बारम्बार उसे तोड़ देता है, ४ शास्त्र पढकर अभिमानी होता है, ५ दोष-भूल करनेपर भी उसे रोकनेकी चेष्टा न कर ढँकनेका प्रयत्न करता है, ६ अपने मित्रो-हितैषियोपर भी क्रोध करता है, ७ अत्यन्त प्रिय मित्रजनोकी एकान्तमे निन्दा करता है, ८ अति वाचाल, ९ द्रोही, १० अभिमानी, ११ लोभी, १२ असयमी, १३ साथियोकी अपेक्षा अधिक हिस्सा लेनेवाला और १४ अप्रीति शत्रुता करनेवाला। जिसमे इनमे-से एक भी दुर्गुण हो उसे अविनयी कहते है ॥९१-९३॥

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

Founded By

SĀHU SHANTIPRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SMT MURTIDEVI

In this Granthamālā critically edited Jaina Āgamic, Philosophical, Paurāṇic, Literary, Historical and other original texts available in Prakrit, Sanskrit, Apabhraṁśa, Hindi, Kannada, Tamil etc, are being published in their respective languages with their translations in modern Indian languages

&

Catalogues of Jaina Bhandāras, Inscriptions, Studies of competent scholars & popular Jain literature are also being published

●

General Editor

Dr A N Upadhye M. A, D Litt

Siddhantacharya **Pt Kailash Chandra Shastri**

●

Published by

Bhāratīya Jñānapītha

Head Office B/45 47, Connaught Place, New Delhi-110001

Publication Office Durgakund Road, Varanasi-221005

●

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470

Vikrama Sam 2000, 18th Feb 1944

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत-भविष्यत्-वर्तमान समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोको जाने उसको ज्ञान कहते है। इसके दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। विशेषार्थ—प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानके विषयमे वैदिक न्यायशास्त्र और जैन न्यायमे कुछ भेद है। वैदिक न्यायानुसार जो कुछ वस्तुकी जानकारी चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा प्राप्त की जाती है वह सभी प्रत्यक्ष है। किन्तु जैन न्यायसे इन्द्रियो और मनके द्वारा जो वस्तुके स्वरूपका ग्रहण होता है वह इन्द्रियोकी विकृतिके साथ विकृत भी हो सकता है, जैसे पीलियाके रोगीको श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई देगी। अत आगे कहे जानेवाले मति,श्रुत,अवधि और मन पर्यय ये चारो ज्ञान प्रत्यक्ष नही परोक्ष ही माने गये है। प्रत्यक्ष तो एकमात्र केवलज्ञान ही है वह इन्द्रियो और मनके बिना सिद्धिके उन्मुख हुए वीतराग महापुरुषोको सीधा अपनी आत्मासे ही होता है। यो पीछेके जैन नैयायिकोने इन्द्रियजन्य ज्ञानको भी वैदिक न्यायसे सन्तुलन रखने हेतु व्यावहारिक प्रत्यक्षके नामसे मान लिया है ॥१०४॥

ज्ञान-भेद

ज्ञानके पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय तथा केवल। इनमे आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक है और केवलज्ञान क्षायिक है। विशेषार्थ—आत्माके गुणोका आवरण या निरोध करनेवाले कर्मोकी नाना अवस्थाएँ होती है। जब कर्म बँधते हैं तब उनकी बन्धावस्था कहलाती है। जबतक कर्म अपना फल दिखाये बिना सत्तामे रहते है तब उनकी सत्त्वावस्था है। जब वे अपना फल देने लगते है तब वह उदयावस्था है। इसी प्रकार जब कुछ कर्मोका सत्तामे रहते हुए भी फलोदयकी दृष्टिसे उनका उपशमन हो जाता है तो उससे शुद्ध हुए आत्माके भावोको औपशमिक कहते है तथा कर्मोके क्षयसे उत्पन्न भाव क्षायिक कहलाते है। केवलज्ञान ऐसा ही क्षायिक भाव है। कुछ कर्मोका कभी घातिक अशका तो क्षय हो जाता है व उपशम हो जाता है किन्तु उनके कुछ देशघाती अशोका उदय बना रहता है। ऐसी अवस्थामे आत्माके जो गुण प्रकट होते है उनमे बहुत कुछ विशुद्धता आ जाती है किन्तु आशिक मलिनता भी साथ ही साथ बनी रहती है। इन भावोको शास्त्रमे क्षायोपशमिक नाम दिया गया है। मतिज्ञानादि प्रथम चार ज्ञान इसी कोटिके है ॥१०५॥

प्रस्तुति

भगवान् महावीरके वचनोपर आधारित अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक गाथाओके इस सकलनकी दो विशेषताएँ है। इन विशेपताओका सार इस प्रश्नके उत्तरमें है कि सकलनका शीर्षक क्या है तथा सकलनकर्ता कौन है ? शीर्षक है 'जिनवाणी'—अर्थात् जैनधर्मकी सयम सम्बन्धी शिक्षाएँ और दार्शनिक सिद्धान्तोकी मूल उद्भावनाएँ। सार रूपमे सब कुछ। और, सकलन-कर्ता है स्वर्गीय डॉ. हीरालाल जैन जो जैन वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान्, अध्येता और अध्यापक थे। आधुनिक युगमें जैन-ज्ञानके अध्ययन और अनुसन्धानको वैज्ञानिक आधार देनेवालोमें वे मूर्धन्यतम थे। साहित्य, दर्शन, कला, भापाशास्त्र, तुलनात्मक विवेचन और मौलिक चिन्तन, सभीमें उनकी प्रतिभाने नये-नये आयामोका उद्घाटन किया। जैन-ज्ञानकी पुजीभूत रत्न-राशिमें-से चुन-चुनकर जिन मणि-माणिक्योकी माला डॉ हीरालालजीने तैयार की थी, वह उनके जीवन-कालमें प्रकाशमें शायद इसलिए नही आयी कि इसके प्रत्यक्ष होने की समुचित काल-लब्धि भगवान् महावीरकी पुण्य-पचविंशति शती ही होनी थी। लेकिन, अब जब महोत्सव वर्ष आया तो डॉक्टर साहब हमारे बीच नही रहे। जिनवाणीकी इस मुक्तामालाका अब दुगुना महत्त्व हो गया है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे डॉ हीरालाल जैनके प्रति हमारा आभार-प्रदर्शन है कि उन्होने ज्ञानपीठकी स्थापनाके दिनसे डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येके सह-सम्पादकत्वमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाका सम्पादन-दायित्व निभाया। दूसरी ओर डॉक्टर हीरालालजीकी ओरसे उनकी यह श्रद्धाजलि भगवान् महावीरके २५००वें निर्वाण महोत्सवके पावन अवसरकी स्मृतिमें सर्मपित है। इस प्रकार उनकी और निर्वाण महोत्सव को स्मृति इस प्रकाशन के साथ सम्बद्ध है।

'जिनवाणी'में सकलित गाथाओका हिन्दी अनुवाद स्वय डॉ हीरालालजीने किया है। इसलिए अनुवाद न केवल प्रामाणिक है, अपितु प्राकृत गाथाओके मूल-शब्दोका सस्कृत-रूप और उनका हिन्दी पर्याय स्पष्ट होता चला गया है। यत्र-तत्र विशेषार्थ द्वारा तात्त्विक भाव स्पष्ट किया गया है। जैनदर्शनकी मौलिक उद्भावनाओको, दर्शन, ज्ञान और चारित्रके अन्तर्गत आनेवाले सिद्धान्तोको

जिसका भूतकालमे चिन्तन किया हो अथवा भविष्यत् कालमे चिन्तन किया जायेगा अथवा वर्तमानमे अर्ध चिन्तन किया है इत्यादि अनेक भेद-स्वरूप दूसरेके मनमे स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाये उस ज्ञानको मन पर्यय ज्ञान कहते है। यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमे ही होता है वाहर नही ॥११२॥

जिसके द्वारा सम्पूर्ण व समग्र शुद्ध रूपसे अद्वितीय एवं समस्त पदार्थोमे गतिशील लोक और अलोकके अन्धकारको दूर करनेवाला ज्ञान हो उसे केवलज्ञान जानना चाहिए ॥११३॥

ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही सदृश है। परन्तु दोनोमे अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है अर्थात् इन्द्रिय और मनके माध्यमसे होता है और केवलज्ञान आत्म प्रत्यक्ष है ॥११४॥

आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय पदार्थोके प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय भी लोक और अलोक प्रमाण है। इसीलिए ज्ञान सर्व पदार्थगत समझना चाहिए ॥११५॥

ग्रन्थरूप शास्त्र ज्ञान नही है क्योकि शास्त्र स्वय कुछ भी नही समझता। इसीलिए जिनेन्द्र भगवान्का कहना है कि ज्ञान और शास्त्र एक दूसरेसे भिन्न हैं ॥११६॥

शब्द ज्ञान नही होता क्योकि शब्द कुछ भी जानता नही है। इसीलिए ज्ञान अन्य वस्तु है और शब्द अन्य। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं ॥११७॥

जीव ही नित्य जानकारी रखता है इसलिए जीव ही ज्ञायक और ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है ऐसा समझना चाहिए ॥११८॥

जिसने अपने समस्त कर्मोको झडकर तथा परद्रव्यका त्याग कर ज्ञानमय आत्माकी प्राप्ति कर ली उस सर्वज्ञदेवको मेरा वारम्बार नमस्कार है ॥११९॥

द्रव्य विषयक ज्ञान

द्रव्यका लक्षण सत्ता है और सत्, उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीन अवस्थाओसे युक्त है। गुणो और पर्यायोके आश्रयको भी द्रव्य कहते है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान्का कथन है ॥१२०॥

लगभग ४० विषयोंके अन्तर्गत जिस रूपमें गाथानुवाद संकलित किया गया है, वह रूप और वह सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। डा. हीरालालजी यदि हमारे बीच होते तो वह प्रत्येक गाथाके मूल-स्रोतका उल्लेख सहजतया कर देते।

पुस्तककी पाण्डुलिपिके साथ एक मार्मिक प्रसंग इस कृतिके इतिहासका जुडा हुआ है। पाण्डुलिपिके अन्तमें डॉ. हीरालालजीने एक रेलवे स्टेशनका नाम लिखा है, और तारीख डाली है। उस यात्रामें डा. उपाध्ये सहयात्री थे और दोनो विद्वान् भारतीय ज्ञानपीठकी सचालक समितिकी बैठकमें भाग लेने कलकत्ता जा रहे थे। उस दिन उस स्टेशनपर जब गाडी खडी हुई, तो दोनो विद्वानो द्वारा 'जिनवाणी'का सहवाचन समाप्त हुआ। इस सकलनका प्रकाशन डाक्टर साहबकी अस्वस्थताके कारण नही हो सका था। अब डाक्टर उपाध्ये और सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के सम्पादकत्व में इस कृति का प्रकाशन हो रहा है। सम्पादक-द्वय के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
मन्त्री
भारतीय ज्ञानपीठ

वीर निर्वाण महोत्सव वर्ष
१० अप्रैल, १९७५

समस्त पदार्थ सत्तात्मक हैं और नाना रूप तथा अनन्त पर्यायधारी हैं। उनमे उत्पाद, व्यय और ध्रुवता इन परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाली अवस्थाएँ एक साथ चलती रहती है ॥१२१॥

चूँकि पदार्थ सत्ताकी नाना पर्याये धारण करता है इसलिए उसे द्रव्य कहते है। तथापि सत्ताकी दृष्टिसे वह अपने मूल गुणसे भिन्न नही होता। उत्पत्ति और विनाश द्रव्यके नही होते। द्रव्य तो सदैव सद्भावरूपी ही होता है किन्तु उसके पर्याय उत्पाद, व्यय और ध्रुव अवस्थाओको उत्पन्न करते है ॥१२२-१२३॥

न तो पर्याय रहित द्रव्य होता और न द्रव्य रहित पर्याय होती। द्रव्य और पर्याय ये दोनो ही एक दूसरेसे अभिन्न होते है ऐसा ज्ञानी श्रमण कहते हैं ॥१२४॥

द्रव्यके विना गुण नही होते तथा गुणोके बिना द्रव्यका होना भी सम्भव नही। अत इन दोनोका परस्पर अभिन्न सद्भाव होता है ॥१२५॥

जो सद्भाव रूप है उसका असद्भाव रूप विनाश नही हो सकता। और जो सद्भावहीन है उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। सद्भावात्मक पदार्थोमे उनकी नाना पर्यायें ही उत्पाद और व्यय उत्पन्न करते हैं॥१२६॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये ही छह द्रव्य हैं जो नाना गुणो और पर्यायोसे सयुक्त कहे गये हैं ॥१२७॥

जीव विषयक ज्ञान

जीव द्रव्य उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, स्वदेह-प्रमाण होता है तथा जबतक वह ससारमे रहता है तबतक इन्द्रियादि विषयोका भोक्ता भी होता है। किन्तु सिद्ध होनेपर वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिको प्राप्त करता है ॥१२८॥

उपयोग दो प्रकारका होता है—ज्ञानसे और दर्शनसे। इन्ही दो गुणोसे जीव सर्वकाल सयुक्त है और इनसे कभी भिन्न नही होता ऐसा जानो ॥१२९॥

पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श ये पुद्गलके गुण जीवमे कदापि नही होते इसीलिए जीव अमूर्त है। तथापि कर्मो व [illegible] बँधे होनेके कारण व्यावहारिक दृष्टिसे उसे मूर्तिमान् कहते हैं ॥१३

व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव पुद्गल कर्मादिका कर्ता है। किन्तु निश्चयनयसे वह चेतनारूप कर्मोका ही कर्ता होता है। और शुद्ध नयकी अपेक्षा तो वह केवल शुद्ध आत्मभावनाका कर्ता है ॥१३१॥

जिस प्रकार पद्मराग नामक रत्न क्षीरमे डालनेपर समस्त क्षीरको अपने रंगसे प्रभासित कर देता है उसी प्रकार देहधारी जीव देहमे स्थित होकर अपने समस्त शरीरको प्रभासित करता है ॥१३२॥

त्रिकालमें जिसके इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वाससे ये चार प्रकारके प्राण होते हैं उसे व्यावहारिक दृष्टिसे जीव कहते है। किन्तु निश्चयनयकी अपेक्षा तो जिसके चेतना है वही जीव है ॥१३३॥

जीव अपने आसपासके समस्त पदार्थोको देखता और जानता है, सुखकी इच्छा करता है, दुखसे भयभीत होता है, अपना पराया हित व अहित भी करता है। और इन सव कर्मोका फल भी भोगता है ॥१३४॥

जवतक जीव ससारमे रहता है तवतक उसके परिणामोमे नाना परिवर्तन होते रहते हैं। इन्ही परिणामोसे कर्मवन्ध उत्पन्न होता है और कर्मोसे ही उसकी अच्छी और वुरी गति होती है ॥१३५॥

मनुष्य तिर्यंच आदि गतियोमे जीवके देह उत्पन्न होता है व देहसे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उन इन्द्रियोके द्वारा नाना विषयोका ग्रहण होता है और उसीके कारण राग व द्वेषकी उत्पत्ति होती है ॥१३६॥

इस प्रकार उत्पन्न हुआ जीव मरणको प्राप्त होता है। तथापि वस्तुतः आत्मा न उत्पन्न होता और न विनष्ट होता केवल उसकी देव व मनुष्यादि पर्याये उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥१३७॥

जव जीव मनुष्य रूपसे मरणको प्राप्त होता है तव वह देव होता है अथवा अन्य किसी गतिमे जाता है। किन्तु दोनो अवस्थाओमे उसके जीव रूप सद्भावका न नाश होता है और न अन्य रूप उत्पत्ति होती है ॥१३८॥

इस प्रकार इस ससाररूपी चक्रवालमे पडे हुए जीवकी अवस्थाएँ होती है। इस लिए जैन तीर्थंकरोने जीवको एक ओर अनादि-निधन और दूसरी ओर जन्म-मरणसे युक्त कहा है ॥१३९॥

पारमार्थिक दृष्टिसे तो जीव जन्म, जरा और मरणसे रहित है, आठों कर्मोसे मुक्त और शुद्ध है। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन चारो स्वाभाविक गुणोंसे युक्त है तथा अक्षय अविनाशी और अछेद्य है ॥१४०॥

भगवान् महावीरके निर्वाणके इस पचीससौवें वर्षके अवसरपर भारतीय ज्ञानपीठने जो सत्साहित्य प्रकाशित करनेका उपक्रम उठाया हुआ है उसमें उक्त सकलन भी है जो पाठकोंके सामने उपस्थित है॥

इसमें समस्त जैन वाङ्मयका एक तरहसे सार आ गया है और इसे पढकर पाठक जैनधर्मके विचार और आचारसे सुपरिचित हो सकता है। समस्त ग्रन्थमें ८५६ प्राकृत गाथाएँ है। जिनका कुछ कम आधा भाग जैनधर्मके ज्ञान-विज्ञानसे सम्बद्ध है और शेष भाग आचारसे सम्बद्ध है। ग्रन्थका प्रारम्भ रत्नत्रयसे होता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते है। यह रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका स्वरूप बतलानेके पश्चात् ग्रन्थमें सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है। इसमें छह द्रव्य, मार्गणा, कर्मसिद्धान्त, गुणस्थान, स्याद्वाद और नयवादका विवेचन है। आगे सम्यक्चारित्रमें श्रावकाचार और साधु-आचारका विवेचन है। श्रावकाचारमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओका कथन अपनेमें पूर्ण किन्तु सक्षिप्त है। यहाँ तक ग्रन्थका अर्धभाग होता है। शेष अर्धभागमें मुनिका आचार वर्णित है उसमें पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन्द्रियजय, तप, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, ध्यान और सामायिकका विवरण संकलित है। इस तरह सग्राहक विद्वान्ने जैन आचारके भी सभी अग सकलित किये हैं।

हमें विश्वास है कि यह सकलन अवश्य ही लोकप्रिय होगा और इस एक ही पुस्तकके स्वाध्यायसे समस्त जिनवाणीका रसास्वादन पाठक कर सकेंगे।

स्व डॉ हीरालालजी भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनाके समयसे ही उसके सचालक मण्डलमें थे और मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक भी थे। ज्ञानपीठके प्रति उनकी सेवाएँ बहुमूल्य रही हैं। उनके स्वर्गवासके पश्चात् उनकी इस कृतिका प्रकाशन करके भारतीय ज्ञानपीठने एक तरहसे डॉ साहबकी सेवाओका समादर भी किया है। हम ज्ञानपीठके सस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जैन तथा अध्यक्षा श्रीमती रमा जैनके कृतज्ञ है जिनकी उदारता और ज्ञानके प्रति रुचिके कारण ही प्राचीन प्राकृत, सस्कृत, तमिल, कन्नड आदि साहित्य प्रकाशमें आकर पाठकोंके ज्ञानवर्द्धनके साथ भारतीय वाङ्मयके भण्डारको समृद्ध बनानेमें योगदान कर रहा है। आजकल साहूजी अस्वस्थ हैं। हम महावीर भगवान्से उनके स्वास्थ्य-लाभकी शुभ कामना करते हैं।

ज्ञानपीठके मन्त्री बा लक्ष्मीचन्द्र और उनके सहकारी मण्डलके सहयोगके प्रति भी हम अपना आभार प्रकट करते हैं।

आ. ने उपाध्ये
कैलाशचन्द्र शास्त्री

एकान्त विपरीत आदि मिथ्याज्ञानमे युक्त तथा राग-द्वेषादि वृत्तियो सहित आत्मरूप भी नियमसे त्यागने योग्य है। इससे विपरीत अर्थात् शुद्ध ज्ञानमय वीतराग आत्मा ध्यान करने योग्य है ऐसा सिद्धिके अभिलाषी जीवको जानना चाहिए ॥३१७॥

जिस नयके द्वारा वस्तुके अनेक धर्मोमे स्यात् शब्दके प्रयोगसे भेदका उपचार किया जाता है वह व्यवहारनय कहा गया है। तथा इसके विपरीत जिस नयमे वस्तुके असली स्वरूपपर दृष्टि रखकर अभेद स्थापित किया जाता है वह निश्चयनय है ॥३१८॥

निश्चयनयके अनुसार जो एकरूप और ध्येयरूप है वही व्यवहार-नयके अनुसार अन्य प्रकार अर्थात् नानारूप और अध्येय कहा गया है। निश्चय नयानुसार निज आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन गुणोके कारण सिद्धरूप ही है तथा व्यवहार नयानुसार ससारी आत्मा अपने रागादि विभावोके कारण सिद्ध नही है। ससारी और सिद्ध जीव पृथक्-पृथक् है ॥३१९॥

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक व व्यवहार ये तीन नय भूतार्थ अर्थात् वस्तु-स्वरूपको प्रकट करनेवाले है। अन्य अनेक नय व्यवहारानुसार कहे गये है। किन्तु शुद्धरूपसे नय दो ही है—निश्चय और व्यवहार। तथा वस्तुके अस्तित्व, द्रव्यत्व आदि उत्कृष्ट स्वरूपको बोध करानेवाला एक निश्चय नय ही है ॥३२०॥

जो भाव जिस वस्तुका कहा गया है वह प्रधानतया तो द्रव्यरूप ही है इसलिए वही भाव ध्येय कहा गया है जो परमभावग्राही निश्चयनयका

विषय-सूची

अचौर्य चारित्र

ग्राममे, नगरमे व वनमे किसी दूसरेकी कोई वस्तु देखकर जब कोई उसको ग्रहण करनेका भाव नही रखता तब उसके तृतीय व्रत अचौर्यका पालन होता है ॥४५८॥

अतएव हे साधक, तुम परायी वस्तु चाहे वह बहुत हो या अल्प यहाँ तक कि दाँतोके शोधन हेतु छोटी-सी कलमकी लकड़ी भी विना उसके स्वामीके दिये ग्रहण करनेकी बात भी मनमे मत लाओ ॥४५९॥

जिस प्रकार वानर धातकीके लाल फलको देखकर दूर स्थित होने-पर भी उसको पानेकी इच्छासे छलाग मारता और उसे ग्रहण करके भी छोड़ देता है। उसी प्रकार लोभी जीव जिस-जिस वस्तुको देखता है उसे ही पानेकी अभिलाषा करने लगता है। इस प्रकार लोभातुर हुआ वह समस्त जगत्की सम्पदा पाकर भी तृप्त नही हो सकता ॥४६०–४६१॥

जिस प्रकार वायु अभ्रकमे प्रविष्ट होकर बढती व क्षणमात्रमे विस्तृत हो जाती है उसी प्रकार जीवका अल्पमात्र लोभ भी क्षण-भरमे विस्तार कर लेता है ॥४६२॥

लोभके बढ जानेपर फिर मनुष्य करने व न करने योग्यकी चिन्ता नही करता यहाँ तक कि फिर वह अपने मरणकी भी परवाह न करके दु साहस कर बैठता है ॥४६३॥

लोभके प्रभावसे सभी पुरुष हत-बुद्धि हो जाते हैं और वे अपने ही स्वार्थ व हितकी बात नही सोच पाते। वे अत्यन्त दुखी हो जाते है जैसे मानो उनके हृदयमे शूल चुभ गया हो ॥४६४॥

स्वार्थके विनष्ट हो जानेसे पुरुष उन्मत्त व चेतनाहीन हो जाता है और वह धिक्कार अर्थात् निन्दाका पात्र बनकर मरता है। लोग कहते है इस पुरुषका जीवन स्वार्थ व धन ही रहा ॥४६५॥

लोग धनके हेतु अटवी, पर्वत, कन्दरा, सागर आदि दुर्गम स्थानोमे भटकते फिरते है व युद्ध भी करते हैं। धनके लोभवश वे अपने प्रिय वन्धु-बान्धवोको यहाँ तक कि अपने प्राणोको भी त्याग देते हैं ॥४६६॥

ऐसे मनुष्य धन होनेपर ही अपने स्त्री-पुत्र व सम्वन्धियोके साथ सुखसे जीवन-यापन कर सकते हैं। यदि कोई उनका धन छीन ले तो समझ लो कि उसने उनके प्राणोका ही अपहरण कर लिया ॥४६७॥

स्थानोमे ही भिक्षार्थ जाऊँगा अन्यत्र नही जाऊँगा इसे क्षेत्र ऊनोदर तप कहते हैं ।।६३५–६३७।।

दिनकी चार पौरुपी अर्थात् प्रहरोमे-से कालकी मर्यादामे ही आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करके चर्या करना इसे काल ऊनोदर तप जानना चाहिए ।।६३८।।

यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलकार सहित या अलकार रहित होगे अथवा अमुक वयका वालक युवा अथवा वृद्ध होगा अथवा उसने अमुक प्रकारके वस्त्र पहने होगे अथवा अन्य किसी विशेषतासे, वर्णसे व भावसे युक्त होगा तो ही उस दाताके हाथसे भोजन ग्रहण करूँगा अन्यके हाथसे नही, इस प्रकारका सकल्प कर भिक्षाचरीमे जाना उसे भाव ऊनोदर तप कहते है ।।६३९–६४०।।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावसे जो नियम कहे गये है उनका पालन करते हुए जो साधु चर्या करता है वह पर्यवचर ऊनोदर तप करनेवाला भिक्षु होता है ।।६४१।।

दूध, दही, घृत आदि पदार्थो तथा स्वादिष्ट पान-भोजन अथवा रसोका परित्याग करना रस विसर्जन नामक तप कहा गया है ।।६४२।।

गोचरीका प्रमाण कर तथा दाता भाजन आदि नाना प्रकारकी मर्यादाओ सहित जो विविध प्रकारसे आहारका ग्रहण किया जाता है उसे वृत्ति-परिसख्यान नामक तप कहते हैं ।।६४३।।

वीरासन आदि जो उग्र आसन जीवको सुखदायक, हितकारी कहे गये है उन आसनोको धारण करना काय-क्लेश नामका तप कहा गया है ।।६४४।।

एकान्त स्थान जहाँ कोई आता-जाता न हो, स्त्रियो व पशुओसे रहित हो ऐसे स्थानमे शयन करना तथा आसन जमाना इसे विविक्त शयनासन नामका तप कहते हैं ।।६४५।।

यह अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसख्यान, रस परित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश इन छह प्रकारके वाह्य तपोका स्वरूप सक्षेपमे कहा गया । अव मै आभ्यन्तर तपका स्वरूप अनुक्रमसे कहता हूँ ।।६४६।।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा कायोत्सर्ग ये छह आभ्यन्तर तप हैं ।।६४७।।

जिन-वाणी

इस जगत्मे इन्द्रियोके विषय मित्रवर्ग तथा उत्तम घोडे, हाथी, रथ इत्यादि सब इन्द्रधनुष तथा बिजलीके चमत्कारवत् चचल है। वे दिखाई देकर तुरन्त नष्ट हो जाते हैं ॥६८७॥

भव्य जीवो, तुम समस्त विपयोको क्षणभगुर सुनकर महामोहको छोडो और अपने मनको विषयोसे रहित करो जिससे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो ॥६८८॥

जिस ससारमे देवोके इन्द्रोका भी विनाश देखा जाता है और जहाँ हरि, नारायण, हर, रुद्र और ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े ईश्वर भी काल द्वारा भक्षण कर लिये गये वहाँ शरण, आश्रय कहाँ ॥६८९॥

जैसे सिंहके पाँवोमे पडे हरिणकी कोई भी रक्षा करनेवाला नही है, उसी प्रकार इस संसारमे मृत्युसे ग्रसित प्राणीकी कोई भी रक्षा नही कर सकता ॥६९०॥

जिस प्रकार सिंह मृगको पकड़ लेता है, उसी प्रकार अन्तकालमे मनुष्यको मृत्यु ग्रसित कर ले जाती है। उस समय उस मनुष्यके माता-पिता व भार्या आदि कोई उसके दुखको आशिक रूपसे भी नही बँटा पाते ॥६९१॥

न तो उसके दुखको जातिवाले बँटाते न मित्रवर्ग न पुत्र और न बान्धव। वह अकेला ही उस दुखका अनुभवन करता है। नियम ही है कि कर्म उसके कर्ता का पीछा करता है ॥६९२॥

जो आपको क्षमादि दशलक्षणरूप भावसे परिणत करे वही अपना आप शरण है। किन्तु जो तीव्र कषायोसे आविष्ट है वह अपने द्वारा अपना ही घात करता है ॥६९३॥

जीव एक शरीरको छोड़ता है और दूसरा ग्रहण करता है, फिर नया ग्रहण कर पुनः उसे छोड़ अन्य ग्रहण करता है। ऐसे बहुत वार ग्रहण करता और छोडता है ॥६९४॥

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत व एकान्तादि रूपसे वस्तुका श्रद्धान तथा कपाय अर्थात् क्रोध, मोह, माया, लोभ इनसे युक्त इस जीवका अनेक देहो अर्थात् योनियोमे भ्रमण होता है। यही ससार है ॥६९५॥

इस प्रकार ससार के स्वरूपको जानकर सर्व प्रकार उद्यम कर मोह-को छोड़ हे भव्य, उम आत्म स्वभावका ध्यान कर जिससे ससारके भ्रमणका नाश हो ॥६९६॥

रत्नत्रय-स्वरूप

एक वार जव ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न संयम व तपमे अनुरक्त सम्पूर्ण आगमके ज्ञाता श्री गौतम गणधर एक उद्यानमे विराजमान थे ॥१॥

तब कुछ नरेश राजामात्य तथा अन्य ब्राह्मण और क्षत्रिय चुपचाप उनके समीप आये और पूछने लगे कि हे भगवन्, हमे समझाइए कि आचारका स्वरूप क्या है ॥२॥

तव उन प्राय. मौन रहनेवाले दमनशील समस्त प्राणियोके कल्याण-कारी शिक्षा देनेमे प्रवीण तथा विचक्षण गणधर स्वामीने उन्हे उपदेश दिया ॥३॥

गणधर स्वामीने कहा—हे भव्यजनो, जिनेन्द्र भगवान्‌का शासन दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है। एक धर्मका मार्ग और दूसरा उस मार्गपर चलनेका फल। मार्गका अर्थ है मोक्ष अर्थात् ससारके वन्धनोसे मुक्तिका उपाय और उसपर चलनेका फल है निर्वाण ॥४॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र ये ही तीन मिलकर मोक्ष-प्राप्तिके कारण जानना चाहिए। यह व्यावहारिक धर्म है। तथा निश्चय रूपसे तो अपने आत्माको ही इन तीनो गुणोसे युक्त समझना चाहिए ॥५॥

ये सम्यग्दर्शनादि तीन रत्न आत्माको छोडकर अन्य किसी पुद्‌गलादि अजीव द्रव्यमे नही होते। इसीलिए उक्त रत्नत्रयमयी आत्मा ही सच्चा मोक्षका कारण है ॥६॥

जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष जिनका स्वरूप आगे वतलाया जायेगा इन सातो तत्त्वोके सच्चे स्वरूपमे श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है और वह अपनी आत्माका वास्तविक स्वरूप है। उसके होनेपर ही हमारा ज्ञान दुराग्रहसे रहित सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥७॥

आत्मा और पर पदार्थोका सशय विमोह और विभ्रमसे रहित अर्थात् सुनिश्चित और विशुद्ध रूपमे आकार ग्रहण सम्यग्ज्ञान है वह अनेक प्रकारका है जैसा आगे निरूपित किया गया है ॥८॥

सर्वत्र शत्रु तथा मित्रसे प्यारे हितरूप वचन बोलना और दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनको क्षमा करना तथा सर्व जीवोके गुण ही ग्रहण करना ये मन्द कषायी जीवोके उदाहरण हैं ।।७०८।।

अपनी प्रशसा करना, पूज्य पुरुषोके भी दोष कहने-करनेका स्वभाव तथा दीर्घ काल तक वैर धारण करना ये तीव्र कषायी जीवोके चिह्न हैं ।।७०९।।

जो पुरुष पूर्वोक्त मोहके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वादिक परिणामोको छोड़ देता है और उपशम अर्थात् शान्त परिणाममे लीन होता है तथा इन मिथ्यात्वादिक भावोको हेय जानता है उसे आस्रवानुप्रेक्षा होती है ।।७१०।।

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत तथा कषायजय एवं योगोका अभाव ये सब सवर हैं ।।७११।।

मन, वचन और कायकी गुप्ति ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समिति उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म, अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा, क्षुधा आदि बाईस परीषहका जीतना, सामायिक आदि उत्कृष्ट पाँच प्रकारका चारित्र ये विशेष रूपसे सवरके कारण हैं ।।७१२।।

जो पुरुष सवरके इन कारणोको विचारता हुआ भी सदाचरण नही करता वह दुखसे तप्तायमान हुआ दीर्घकाल तक ससारमे भ्रमण करता है ।।७१३।।

जो मुनि इन्द्रियोके विषयसे विरक्त होकर मनोहर इन्द्रिय विषयोसे आत्माको सदैव सवृत्त रखते हैं उसके स्पष्ट सवर भावना है ।।७१४।।

ज्ञानी और निरहकार जीवके निदान रहित व वैराग्य भावना सहित बारह प्रकार तप करनेसे कर्मोकी निर्जरा होती है ।।७१५।।

समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंकी फलदायिनी शक्तिके विपाक अर्थात् उदयको ही अनुभाग कहते हैं । कर्मोका उदयमे आकर अनन्तर ही सडना अर्थात् झड़ना या क्षरना होने लगता है इसीको कर्मोकी निर्जरा जानिए ।।७१६।।

यह निर्जरा दो प्रकारकी है—एक तो स्वकाल प्राप्त और दूसरी तपस्याकृत । इनमे पहली अर्थात् स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारो ही गतियोके जीवोकी होती है किन्तु दूसरी अर्थात् तपकृत निर्जरा व्रतयुक्त जीवोकी ही होती है ।।७१७।।

सम्यक्-चारित्रका सक्षेपमे स्वरूप यह है कि समस्त अशुभ प्रवृत्तियोसे बचना और शुभ कार्योमे प्रवृत्त होना। इसीके अनुसार जिनेन्द्र भगवान्‌ने व्रत, समिति, गुप्ति, आदिका जो स्वरूप बतलाया है उसे ही व्यवहारनयसे सम्यक्चारित्र समझना चाहिए ॥९॥

किन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे ज्ञानी पुरुषका सम्यक्चारित्र तब होता है जब वह संसारके बन्धनोके विनाश हेतु अपनी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओका निरोध कर लेता है ॥१०॥

सम्यक्त्व-देशना

सम्यक्त्व तब होता है जब जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातो तत्त्वोका वास्तविक स्वरूप समझ लिया जाये ॥११॥

इनमे प्रथम तत्त्व जीवके दो भेद है—एक ससारमे स्थित जीव और दूसरे वे जीव जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं ॥१२॥

संसारी जीवोके पुनः दो भेद है—पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक, अग्नि-कायिक, वायु-कायिक और वनस्पति-कायिक ये पाँचो प्रकारके जीव एकेन्द्रिय होते है और वे सम्मिलित रूपसे स्थावर कहलाते हैं। शेष दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियोवाले जीव समुच्चय रूपसे त्रस कहलाते हैं। इन त्रस जीवोके भी दो भेद हैं। दो, तीन और चार इन्द्रियोवाले जीव विकलेन्द्रिय तथा पाँच इन्द्रियोवाले सकलेन्द्रिय कहे जाते है ॥१३॥

शख आदि जीव द्वीन्द्रिय है, गोमी आदि त्रीन्द्रिय तथा भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं और ये तीनो प्रकारके जीव विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। जलचर, थलचर और नभचर तिर्यंच व मनुष्य तथा देव व नारकी जीव जो पाँचो इन्द्रियोंसे युक्त है वे सकलेन्द्रिय कहलाते हैं ॥१४॥

इन सकलेन्द्रिय जीवोके पुन दो भेद हैं। इनमे जो जीव शिक्षा, क्रिया, उपदेश व आलाप ग्रहण करनेकी योग्यता रखते है अर्थात् सिखानेसे सीख सकते हैं वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनमे यह योग्यता नही होती वे असज्ञी हैं ॥१५॥

मुनि विचारते हैं—जब मैंने वस्त्रोका त्याग कर दिया है तो पुनः उसका ग्रहण नही करूँगा। भिक्षु सदा अचेल रहते हुए जिन रूपका धारी होता है ॥७४०॥

वस्त्रधारी सुखी होता है और वस्त्र रहित दुखी होता है अतः मैं धारण करूँगा ऐसा भिक्षु विचार नही करता ॥७४१॥

गाँव-गाँवमे विचरनेवाले किसी एक स्थानमे न रहनेवाले तथा परिग्रहसे रहित मुनिको यदि कभी सयमसे अरुचि हो तो वह उसे सहन करे, मनमे अरुचिका भाव न आने दे ॥७४२॥

वैराग्यवान् आत्मभावोकी रक्षामे निरत आरम्भका त्यागी और क्रोधादि कषायोसे शान्त मुनि अरतिको पीछे करके छोड़कर धर्मरूपी बगीचेमे विचरे ॥७४३॥

इस संसारमे स्त्रियाँ पुरुषोकी आसक्तिका महान् कारण है। जिस त्यागीने इतना जान लिया उसका साधुत्व सफल हुआ ॥७४४॥

इस तरह समझकर कुशल साधु स्त्रियोके संगको कीचड-जैसा मलिन मानकर उसमे न फँसे, आत्मविकासका मार्ग ढूँढकर सयममे ही गमन करे ॥७४५॥

संयमी साधु परीषहोको जीतकर गाँवमे, नगरमे, व्यापारी-बस्तीवाले प्रदेशमे अथवा राजधानीमे भी अकेला ही विचरण करे ॥७४६॥

किसीके साथ समानताका भाव ग्रहण न करके भिक्षु एकाकी राग-द्वेष रहित होकर विहार करे तथा वह किसी स्थानमे समता न करे तथा वह गृहस्थोसे अनासक्त रहकर किसी भी देशकाल प्रमाणादिका नियम रखे विना विहार न करे ॥७४७॥

श्मशान शून्य निर्जन घर अथवा वृक्षके मूलमे एकाकी साधु बिना शरीरकी कुचेष्टाओके स्थिर आसनसे बैठे और दूसरोको थोड़ा-सा भी त्रास न दे ॥७४८॥

वहाँपर बैठे हुए यदि उसपर उपसर्ग–किसीके द्वारा जानबूझकर दिये गये कष्ट आवे तो वह उन्हे दृढ मनसे सहन करे किन्तु विपत्तिकी आशका-से भयभीत होकर वह न दूसरी जगह जाये और न उठकर अन्य आसन ग्रहण करे ॥७४९॥

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥१६॥

अज्जीवा वि य दुविहा रूवारूवा य रूविणो चदुधा ।
खंधा देस पदेसा अणु त्ति वि य पुग्गला रूवी ॥१७॥

ते पुण धम्माधम्मागासा य अरूविणो तह य कालो ।
गदि-ठाणोग्गाहण-कारणाणि कमसो दु वट्टण-गुणो य ॥१८॥

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसाय-णिग्गह-गुणेहिं ।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥१९॥

पुण्णस्सासव-भूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो ।
विवरीद पावस्स दु आसव-हेउं वियाणाहि ॥२०॥

णेहोप्पिद-गत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह राग-दोस-सिणिहोलिदस्स कम्म मुणेयव्व ॥२१॥

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
अरिहंत-वुत्त-अत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्त ॥२२॥

अविरमण हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णादव्वा ।
कोधादी य कसाया जोगो जीवस्स चेट्ठा दु ॥२३॥

अज्जेवाहं ण लब्भामि अवि लाभो सुवे सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे अलाभो तं ण तज्जए ॥७५९॥

णच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो भावए पण्णं पुट्ठो तत्थहियासए ॥७६०॥

तेइच्छं णाभिणंदेज्जा सचिक्खत्त-गवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं ज ण कुज्जा ण कारवे ॥७६१॥

अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स होज्जा गाय-विराहणा ॥७६२॥

आयवस्स णिवाएण अउला हवइ वेयणा ।
एवं णच्चा ण सेवंति तंतुज तण-तज्जिया ॥७६३॥

किलिण्ण-गाए मेहावी पंकेण व रएण वा ।
घिंसु वा परियावेण सायं णो परिदेवए ॥७६४॥

वेएज्ज णिज्जरा-पेही आरियं धम्मणुत्तरं ।
जाव सरीर-भेओत्ति जल्लं काएग धारए ॥७६५॥

अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा णिमतण ।
जे ताइ पडिसेवति ण तेसिं पीहए मुणी ॥७६६॥

अणुक्कसाई अप्पिच्छे अण्णाएसी अलोलुए ।
रसेसु णाणुगिज्झेज्जा णाणुतप्पेज्ज पण्णवं ॥७६७॥

से णूण मए पुव्वं कम्माणाण-फला कडा ।
जेणाहं णाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥७६८॥

इसी वातको दूसरे प्रकारसे यो कह सकते हैं कि जो जीव किसी कार्यमे प्रवृत्त होनेसे पूर्व ही करने योग्य और न करने योग्य तत्त्व व तत्त्वहीन वातोकी मीमासा अर्थात् विचार-विवेक करनेकी क्षमता रखता है व इस वस्तुका यह नाम है इसे इस नामसे पुकारते है यह सीख लेता है वह समनस्क अर्थात् मन-सहित व सज्ञी जीव कहलाता है। तथा जो इन सव विवेक-विचारो व शिक्षाओकी योग्यतासे रहित है वह अमनस्क अर्थात् मन-हीन व असज्ञी कहलाता है ॥१६॥

अव दूसरे तत्त्व अजीवका स्वरूप समझाते हैं। अजीव तत्त्व दो प्रकार-के है—रूपी और अरूपी। इनमे रूपी तत्त्वको पुद्गल कहते है और वह चार प्रकारका होता है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु। ये चारो मूर्तिमान् भौतिक द्रव्यके भेद हैं ॥१७॥

शेप जो चार तत्त्व हैं वे अरूपी हैं और उनके नाम हैं—धर्म, अधर्म, आकाग और काल। ये द्रव्य सभी द्रव्योके क्रमशः गति, स्थान, अवगाहना तथा वर्तनामे सहायक होते हैं ॥१८॥

जो जीव सम्यक्त्व, श्रुत, विरति तथा कषायोका निग्रह इन गुणोके अनुसार परिणति करता है वह पुण्यशील कहलाता है और जो इसके विपरीत आचरण करता है वह पापी है ॥१९॥

जीवोकी अनुकम्पा अर्थात् दया और अपने दर्शन-ज्ञानमे शुद्ध उपयोग करता है उसकी क्रियाएँ पुण्यके आस्रवमे कारणीभूत होती हैं। इसके विपरीत क्रियाओको पापका आस्रव हेतु जानना चाहिए ॥२०॥

जिस प्रकार तेल आदि चिकने पदार्थसे लिप्त शरीरके अगोपर धूलि जम जाती है उसी प्रकार राग और द्वेषरूपी तेलसे लिप्त जीवके कर्म-वन्ध होता है ऐसा जानना चाहिए ॥२१॥

मिथ्यात्व अविरति अर्थात् विषयासक्ति, क्रोधादि कषाय तथा मन, वचन, कायकी क्रियारूपी योग ये कर्मोके आस्रव होते हैं। अरहन्त भगवान् द्वारा पदार्थोंका जो स्वरूप वतलाया गया है उसमे व्यामोह अर्थात् सन्देह आदिका होना ही मिथ्यात्व है ॥२२॥

हिंसा, चोरी, असत्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच दोपोका नाम ही अविरति है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कपाय हैं तथा जीव-की जो मन, वचन और काय द्वारा जो चेष्टा होती है उसीका नाम योग है ॥२३॥

अह पच्छा उइज्जंति कम्मा णाण-फला कड़ा ।
एवयस्सासि अप्पाणं णच्चा कम्म-विवागयं ॥७६९॥

णिरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसवुडो ।
णो सक्खं णाभिजाणामि धम्मं कल्लाण-पावगं ॥७७०॥

तवोवहाणमादाय पडिमं पडिवज्जओ ।
एवं पि विहरओ मे छउमं ण णियट्टइ ॥७७१॥

णत्थि णूणं परे लोए इड्ढी वा वि तवस्सिणो ।
अदु वा वंचिओ मि त्ति इइ भिक्खू ण चिंतए ॥७७२॥

अभू जिणा अत्थि जिणा अदु वा वि भविस्सइ ।
मुसं वे एवमाहसु इइ भिक्खू ण चिंतए ॥७७३॥

एए परीसहा सव्वे कासवेण निवेइया ।
जे भिक्खू ण विहम्मेज्जा पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥७७४॥

झाण-परूवणं

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलघणिज्जो कम्म-समत्थो य जिणदि य ते ॥७७५॥

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसह-रिऊणं ।
जायइ अलघणिज्जो झाण-समत्थो य जिणदि य ते ॥७७६॥

जिद-रागो जिद-दोसो जर्दिदिओ जिद-भओ जिद-कसाओ ।
रदि-अरदि-मोह-महणो झाणोवगओ सदा होइ ॥७७७॥

धम्म चउप्पयार सुक्क च चदुव्विध किलेस-हरं ।
संसार-दुक्ख-भीओ दोण्णि वि झाणाणि सो झादि ॥७७८॥

जिस जीवका अनुराग प्रशस्त अर्थात् सर्व जीव हितकारी है और जिसके भावोमे सब जीवोके प्रति अनुकम्पा है तथा जिसके चित्तमे कोई कालुष्य अर्थात् मलिनता नही है ऐसे जीवके पुण्य कर्मका आस्रव होता है ॥२४॥

किन्तु जब क्रोध, मान, माया अथवा लोभ जीवके चित्तमे आसक्त होकर क्षोभ उत्पन्न करता है तब उसे ही विद्वान् कलुषित-चित्त कहते है ॥२५॥

प्रमादसे प्रचुर आचरण, चित्तमे कालुष्य, विषयोमे लोलुपता तथा वार्तालाप आदि दूसरोको परिताप उत्पन्न करनेवाला ये सब पापका आस्रव करनेवाली क्रियाएँ है ॥२६॥

जब जीवकी मन, वचन व कायकी क्रिया रूप योग क्रोधादि कषायोसे युक्त होता है तब वह कर्मरूपी पुद्गलोका ग्रहण-कर्ता है जिसे कर्म-बन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदोसे युक्त होता है ॥२७॥

यत्नाचारसे रहित जीव जब क्रोधादि कषायोके वशीभूत होकर कर्मका आस्रव करता है किन्तु जो जीव अप्रमादी अर्थात् यत्नाचारी है और क्रोधादि कषायोंके विपरीत क्षमा, मृदुता, ऋजुता व निर्लोभ वृत्तिसे युक्त हैं वे उक्त कर्मास्रवका 'निरोध कर देते हैं ॥२८॥

मिथ्यात्वका आस्रव द्वार सम्यक्त्वरूपी दृढ कपाटसे अवरुद्ध किया जाता है तथा हिंसा आदिक आस्रव-द्वार अहिंसादि व्रतरूपी अर्गलासे अवरुद्ध किये जाते हैं॥२९॥

अहिंसादि व्रतोका पालन करनेवाले जिस जीवकी मन-वचन-काय रूप प्रवृत्तियोमे पुण्य और पाप दोनोका अभाव है उसके शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोका सवरण अर्थात् अवरोध होता है ॥३०॥

जो जीव मन-वचन-कायसे सयममे लीन है और अनेक प्रकारके अनशन आदि तपोका आचरण करता है वह बडे प्रमाणपर कर्मोकी निर्जरामे प्रवृत्त होता है ॥३१॥

पहले बाँधे हुए कर्मोके क्षयका नाम निर्जरा है जो दो प्रकारकी होती है—एक तो वह जो कर्मोकी अवधिके पूर्ण हो जानेपर स्वय होती है जिसे विपाक निर्जरा कहते हैं और दूसरी जो सयम व तपके प्रभावसे कर्मोकी बाँधी हुई अवधिसे पूर्व ही कर दी जाती है और जिसे अविपाक निर्जरा कहते हैं ॥३२॥

धम्मस्स लक्खणं से अज्जव-लहुगत्त-मद्दवोवसमो ।
सुत्तस्सुवदेसेण णिसग्गओ अत्थ-रुचिगो से ॥७८८॥

आलंबणं च वायण-पुच्छण-परिवट्टणाणुवेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥७८९॥

पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णिकाये दव्वमण्णो य ।
आणा-गेज्झे भावे आणा-विचयेण विचिणादि । ७९०॥

कल्लाण-पावगाणोयाए विचिणादि जिणमदमुवेज्ज ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥७९१॥

एयाणेय-भव-गदं जीवाणं पुण्ण-पाव-कम्म-फलं ।
उद ओदीरण-संकम-बंधे मोक्खे य विचिणादि ॥७९२॥

अह तिरिय-उड्ढ-लोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ।
इत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥७९३॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोयमसुइत्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधि च चिंतज्ज ॥७९४॥

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्ध-लेसाओ ॥७९५॥

झाणं पुधत्त-सवियक्क-सवीचारं हवे पढम सुक्कं ।
सवियक्केगत्तावीचार झाणं विदिय-सुक्कं ॥७९६॥

जिस प्रकार वृक्षोके फल अपनी स्वाभाविक काल-मर्यादापर भी पकते है और उपायके द्वारा उन्हे उसके पूर्व भी पकाया जा सकता है उसी प्रकार कर्म भी अपनी अवधि पूर्ण करके भी झड़ते है और सयमादि उपायोंसे भी उन्हे उससे पूर्व क्षय किया जा सकता है ॥३३॥

जब जीव अपने समस्त कर्मोंसे मुक्त होकर अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप स्वभावको प्राप्त कर लेता है तब उसका मोक्ष हुआ कहा जाता है। इस मुक्तावस्थाका आदि तो है किन्तु अन्त नही अर्थात् मुक्त होनेपर जीव अनन्त काल तक उसी शुद्ध स्वरूपमे बिना किसी बाधाके स्थित रहता है ॥३४॥

चूँकि इन सिद्ध जीवोके रागादि असद् भावोका अभाव होता है और उनके पुनः जन्म-मरण आदि सम्भव नही होते इसीलिए उन्हे सर्व बाधाओसे रहित शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है ॥३५॥

तात्पर्य कि रागी जीव कर्म-बन्ध करता है और राग-रहित जीव कर्म-बन्धसे मुक्त हो जाता है। यही सक्षेपमे मोक्ष विषयक जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है ॥३६॥

ये ही नौ पदार्थ अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्ने कहे उसी प्रकार वे तात्त्विक दृष्टिसे यहाँ वर्णन किये गये है। इन्हीका जो सम्यक्त्व पूर्वक अर्थात् श्रद्धान सहित ध्यान करता है वही जीव सम्यग्दृष्टि होता है ॥३७॥

जबतक किसी जीवको उक्त तत्त्वोमे शुद्ध भावना उत्पन्न नही होती और जबतक वह उन विचारणीय तत्त्वोका चिन्तन नही करता तबतक उसे जन्म-मरणकी बाधाओसे रहित मुक्तिस्थानकी प्राप्ति नही होती ॥३८॥

इसीलिए समस्त तीर्थंकरोने जीवादि तत्त्वोके श्रद्धान रूप सम्यक्त्व-का प्ररूपण किया है जो व्यावहारिक दृष्टि से है। निश्चय दृष्टिसे तो आत्मा ही सम्यक्त्व रूप है अर्थात् विशुद्ध आत्मचिन्तन श्रेष्ठ सम्यक्त्वका लक्षण है ॥३९॥

जिस जीवके हृदयमे यह सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह नित्य होता रहता है उसके पूर्वकर्मोका बालुकाके बाँध सदृश क्षय हो जाता है और आगेकी कर्म-बन्ध परम्परा भी विनष्ट हो जाती है ॥४०॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन्हीका साधुको नित्य सेवन करना चाहिए। इन्ही तीनको निश्चयपूर्वक अपना आत्मा अर्थात् सच्चा आत्म-स्वरूप समझना चाहिए ॥८३७॥

निश्चयनयकी अपेक्षा दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो परस्पर भिन्न नही होते। आत्माका जो शुद्ध भाव है उसीको रत्न-त्रय जानिए ॥८३८॥

जिस प्रकार कोई पुरुष राजाको पहचानकर उसीमे श्रद्धा करता है और अपनी कामनाकी सिद्धि हेतु उसीका प्रयत्नपूर्वक अनुसरण करता है उसी प्रकार जीवरूपी अपने राजाको पहचानना चाहिए, उसीका श्रद्धान करना चाहिए और मोक्षकी कामना रखते हुए उसीका अनुगमन करना चाहिए ॥८३९-८४०॥

जब आत्मा आत्मामे ही रमण करने लगा तथा राग-द्वेषात्मक समस्त दोप दूर हो जाये तब यही धर्म है और यही ससारसे पार उतरनेका साधन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है ॥८४१॥

सम्यक्चारित्र ही धर्म है। धर्म वही कहा गया है जिसमे समता भाव हो। और मोह-क्षोभसे रहित आत्म-परिणाम ही समता भाव है ॥८४२॥

उक्त धर्मके अनुसार आत्माकी परिणति होनेपर यदि उसमे शुद्ध उपयोग हो जाये तो उस जीवको निर्वाण सुखकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु यदि आत्मोपयोग शुद्ध न होकर शुभ हुआ तो उसे स्वर्ग-सुख मिलता है ॥८४३॥

विशेपार्थ—चित्तकी प्रवृत्ति तीन प्रकारकी होती है। एक अशुभ रूप जिससे पाप उत्पन्न होता है और जीव नरकके दुखोका भाजन बनता है। दूसरा शुभ रूप जिससे पुण्यका उपार्जन होकर जीव स्वर्गके सुखोका भागी होता है। और तीसरी शुद्ध प्रवृत्ति जो पाप व पुण्य रूप दोनो प्रकारके कर्म-बन्धनोसे रहित होकर जीवको मुक्तिका भाजन बना देती है। इसे ही शुद्धोपयोग कहते है ॥८४३॥

शास्त्रानुसार श्रमण या तो शुद्धोपयोगमे लगे होते है या शुभोपयोगमे। इनमे जो शुद्धोपयोगी होते है वे कर्मास्रवसे रहित होते है किन्तु शेप अर्थात् शुभ व अशुभ उपयोगवालोके कर्मोका आस्रव होता ही है ॥८४४॥

जिन योगियोको शुद्धोपयोग की सिद्धि हो जाये उन्हे असाधारण विषयातीत अनन्त और अविनश्वर आत्मोत्पन्न सुखकी प्राप्ति हो जाती है ॥८४५॥

समत्तादो णाणं णाणादो सव्व-भाव-उवलद्धी ।
उवलद्ध-पयत्थे पुण सेयासेय वियाणेइ ॥४१॥

सेयासेय-विदण्हू उद्धुद-दुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥४२॥

एवं चि य णाऊण य सव्वे मिच्छत्त-दोस संकाई ।
परिहरि सम्मत्त-मला जिण-भणिया तिविह-जोगेण ॥४३॥

तं चेव गुण-विसुद्धं जिण-सम्मत्तं सुमोक्ख-ठाणा य ।
ज चरइ णाण-जुत्तं पढमं सम्मत्त-चरण-चारित्त ॥४४॥

णिस्सकिय णिक्कखिय णिव्विदिगिछा अमूढ-दिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदि-करण वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥४५॥

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्त-भय-विप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥४६॥

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म-बंध-मोहकरे ।
सो णिस्सको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥४७॥

जो दु ण करेदि कंख कम्म-फलेसु तह सव्व-धम्मेसु ।
सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥४८॥

जो ण करेदि दुगुंछ चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥४९॥

जो हवइ असमूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्व-भावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५०॥

जो सिद्ध-भत्ति-जुत्तो उवगूहणगो दु सव्व धम्मीणं ।
सो उवगूहण-कारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५१॥

इस सम्यक्त्वके प्रभावसे ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है और सम्यग्ज्ञानसे सब पदार्थोकी सच्ची जानकारी प्राप्त होती है। पदार्थोकी जानकारीसे श्रेय और अश्रेय अर्थात् कल्याण और अकल्याणका यथार्थ ज्ञान होता है ॥४१॥

श्रेय और अश्रेयका ज्ञाता दुराचरणको छोड़कर शीलवान् बन जाता है। इस शीलके फलस्वरूप उसका अभ्युदय अर्थात् आत्मोत्थान होता है जिसके फलस्वरूप उसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है ॥४२॥

ऐसा जानकर शकादिक समस्त मिथ्यात्वके दोषोको जिन्हे जिनेन्द्र भगवान्‌ने सम्यक्त्वके मल कहा है उसका मन-वचन-काय रूप तीनो योगोसे त्याग करना चाहिए ॥४३॥

जो कोई जिनेन्द्र द्वारा कहे गये नि शकादि गुणोसे विशुद्ध और मोक्ष-स्थानके द्वारभूत सम्यक्त्वका ज्ञानयुक्त आचरण करता है उसके चारित्रको प्रथम सम्यक्त्वाचरण कहा गया है ॥४४॥

वे सम्यक्त्वके गुण आठ है—नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ॥४५॥

क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव नि शक और निर्भय हो जाते हैं तथा सात मदोसे मुक्त होते है इसीलिए उन्हे नि शक कहा गया है ॥४६॥

जो जीव मोहजनित कर्म-बन्धोको उत्पन्न करनेवाले कषायादि चारो पापवृत्तियोका छेदन करता है उसे नि शक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ॥४७॥

उम्मग्गं गच्छंतं सगमवि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदि-करणे जुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५२॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साधूण मोक्ख-मग्गम्मि।
सो वच्छल-भाव-जुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५३॥

विज्जा-रहमारूढो मणोरह पहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिण णाण पहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५४॥

वच्छल्लें विणएण य अणुकपाए सुदाण दच्छाए।
मग्ग गुण ससणाए उवगूहणे रक्खणाए य ॥५५॥

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहि भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिण सम्मत्तं अमोहेण ॥५६॥

एवंविह-परिणामो सम्मादिट्ठी जिणेहि पण्णत्तो।
एसो य भव-समुद्द लघइ थोवेण कालेण ॥५७॥

जह तारयाण चंदो मय-राओ मय उलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसि-सावय दुविह-धम्माणं ॥५८॥

इय णाउं गुण-दोस दंसण-रयण धरेह भावेण।
सार गुण-रयणाण सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥५९॥

ज सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तस्स सद्दहणं।
केवलि-जिणेहि भणिय सद्दहमाणस्स सम्मत्त ॥६०॥

सम्म विदिद-पदत्था चत्ता उवहिं वहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धे त्ति णिद्दिट्ठा ॥६१॥

सुद्धस्स य सामण्ण भणिय सुद्धस्स दसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाण सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥६२॥

सिस्साणुसासणं

आणा-णिद्देस-करे गुरूणमुववाय-कारए।
इंगियागार-सपण्णे से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६३॥

आणा-णिद्देसऽकरे गुरूणमणुववाय-कारए।
पडणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चइ ॥६४॥

जल सुणी पूइकण्णी णिक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील-पडिणीए मुहरी णिक्कसिज्जइ ॥६५॥

कण-कुंडगं चइत्ताण विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताण दुस्सीले रमई मिए ॥६६॥

सुणिया भावं साणस्स सूयरस्स णरस्स च।
विणए ठवेज्ज अप्पाणमिच्छतो हियमप्पणो ॥६७॥

अणुसासिओ ण कुप्पेज्जा, खंत्तिं सेवेज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥६८॥

मा य चंडालियं कासी वहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता तओ झाएज्ज एगगो ॥६९॥

आहच्च चंडालियं कट्टु ण णिण्हवेज्ज कयाइ वि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा अकडं णो कडे त्ति य ॥७०॥

आसण-गओ ण पुच्छेज्जा णेव सेज्जा-गओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सतो पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥७१॥

ण लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं ण णिरट्ठं ण मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्संतरेण वा ॥७२॥

शिक्षानुशासन

जो गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाला हो, अन्तेवासी गुरुके निकट रहनेवाला हो तथा अपने गुरुके इगित इशारे तथा आकार मनोभावका जानकार हो उसे विनीत कहते है ॥६३॥

आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले, गुरुजनोके हृदयसे दूर रहनेवाले, शत्रु समान विरोधी तथा विवेकहीन साधकको अविनीत कहते है ॥६४॥

जिस प्रकार सड़ी कुतिया हर जगह दुत्कारी जाती है उसी तरह शत्रु समान वाचाल बहुत वोलनेवाला तथा दुराचारी स्वच्छन्दी शिष्य सर्वत्र अपमानित होता है ॥६५॥

जिस प्रकार शूकर स्वादिष्ट अन्नको छोड़ विष्टा खानेमे रुचि रखता है उसी प्रकार स्वच्छन्दी मूर्ख शिष्य सदाचार छोडकर स्वच्छन्द विचरनेमे ही आनन्द मानता है ॥६६॥

कुत्ता, शूकर और मनुष्य इन तीनो दृष्टान्तोके भाव आशयको सुनकर अपने कल्याणका इच्छुक शिष्य विनय मार्गमे अपना मन लगावे ॥६७॥

महापुरुषोकी शिक्षासे क्रुद्ध नही होना चाहिए। चतुर होकर सहनशीलता रखना चाहिए। नीच वृत्तिके मनुष्योकी सगतिमे पड़कर हँसी-मजाक और खेल-कूदसे भी वचना चाहिए ॥६८॥

कोप करना चाण्डाल कर्म है जो नही करना चाहिए। व्यर्थ बकवाद मत करो। समयकी अनुकूलताके अनुसार उपदेश श्रवण कर फिर उसका एकान्तमे चिन्तन-मनन करना चाहिए ॥६९॥

भूलमे यदि कदाचित् चाण्डाल भाव क्रोध हो जाये तो उसे कभी मत छुपाओ। जो दोप हो जाये उसे गुरुजनोके समक्ष स्वीकार कर लो। यदि अपना दोप न हो तो विनयपूर्वक उसको स्पष्ट कर देना चाहिए ॥७०॥

अपने आसनपर वैठे अथवा बिछौनेपर लेटे हुए गुरुसे प्रश्नोत्तर नही करना चाहिए। गुरुके पास जाकर हाथ जोड़कर और नम्रता पूर्वक वैठकर अथवा खडे होकर अपनी शकाओका समाधान करना चाहिए ॥७१॥

पूछनेपर सदोप वात न कहे। अपने स्वार्थके लिए अथवा अन्य किसी भी कारणसे ऐसे वचन न वोले जो निरर्थक हो अथवा जो सुननेवालेके हृदयमे चुभे ॥७२॥

समरेसु अगारेसु संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं णेव चिट्ठे ण संलवे ॥७३॥

जं मे बुद्धाऽणुसासंति सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे ॥७४॥

अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मण्णई पण्णो वेसं होइ असाहुणो ॥७५॥

हियं विगय-भया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं खंति-सोहि-करं पदं ॥७६॥

रमए पंडिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासंतो गलियस्सं व वाहए ॥७७॥

खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे ।
कल्लाणमणुसासंतो पावदिट्ठि त्ति मण्णइ ॥७८॥

पुत्तो मे भाय णाइ त्ति साहू कल्लाण मण्णइ ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं दासो त्ति मण्णइ ॥७९॥

ण कोवए आयरियं अप्पाणं पि ण कोवए ।
बुद्धोवघाई ण सिया ण सिया तोत्तगवेसए ॥८०॥

आयरियं कुवियं णच्चा पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज ण पुणो त्ति य ॥८१॥

ब्रह्मचारीको एकान्तके घरोमे अथवा दो घरोके बीचके तग स्थानमे अथवा राजमार्गमे अकेली स्त्रीके पास न तो अकेला खड़ा ही होना चाहिए और न उससे सम्भाषण करना चाहिए ॥७३॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि महापुरुष मुझे मीठा उपालम्भ अथवा कठोर शब्दोमे भर्त्सना करते है। इससे मेरा परम कल्याण होगा ऐसा मानकर उसका विवेकपूर्वक पालन करे ॥७४॥

गुरुजनकी शिक्षा, दण्ड कठोर तथा कठिन होनेपर भी दुष्कृतकी नाशक होती है। इसलिए चतुर साधक उसको अपना हितकारी मानता है। किन्तु असाधु जन उसको द्वेष-जनक तथा क्रोधकारी समझ बैठता है ॥७५॥

निर्भय एव दूरदर्शी पुरुष कठोर दण्डको भी उत्तम मानते है। किन्तु मूढ पुरुषोकी क्षमा एव शुद्धि करनेवाला हितकारी वचन भी द्वेषका कारण हो जाता है ॥७६॥

अच्छा घोड़ा चलानेमे जैसे सारथीको आनन्द आता है वैसे ही चतुर साधकको विद्यादान करनेमे गुरुको आनन्द प्राप्त होता है। जिस प्रकार अड़ियल टट्टूको चलाते सारथी थक जाता है वैसे ही मूर्खको शिक्षण देते-देते गुरु भी थककर हतोत्साह हो जाते है ॥७७॥

पापदृष्टिवाला शिष्य कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरुकी चपतो और भर्त्सनाओ, झिडकियोको वध तथा आक्रोश गाली मानता है ॥७८॥

साधु पुरुष तो यह समझता है कि गुरुजी मुझको अपने पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजनके समान मानकर ऐसा कर रहे है। इसलिए वह गुरुजीकी शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है। किन्तु पापदृष्टिवाला शिष्य उस दशामे अपनेको दास मानकर दुखी होता है ॥७९॥

विद्येच्छु भिक्षुका कर्तव्य है कि वह ऐसा व्यवहार न करे जिससे आचार्यको अथवा अपनी आत्माको क्रुद्ध होना पडे। ऐसा कोई कृत्य न करे जिससे ज्ञानी जनोकी छोटी-सी भी क्षति हो। वह दूसरोके दोप भी न देखे ॥८०॥

यदि कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाये तो अपने प्रेमसे उनको प्रसन्न करे। हाथ जोडकर उनकी विनय करे तथा क्षमा माँगते हुए उनको विश्वास दिलाये कि भविष्यमे वैसा दोप फिर कभी न करूँगा ॥८१॥

अह पण्णरस-ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
णीयावत्ती अचिचले अमाई अकुऊहले ॥९४॥

अप्पं च अहिक्खिवइ पवध च ण कुव्वइ ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ सुयं लद्धुं ण मज्जइ ॥९५॥

ण य पाव-परिक्खेवी ण य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासइ ॥९६॥

कलह-डमर-वज्जिए बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥९७॥

वसे गुरु-कुले णिच्चं जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियवाई से सिक्ख लद्धुमरिहइ ॥९८॥

जहा से तिमिर-विद्धंसे उच्चिट्ठंते दिवायरे ।
जलते इव तेएण एवं हवइ बहुस्सुए ॥९९॥

जहा से उडुवई चदे णक्खत्त परिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए एवं हवइ बहुस्सुए ॥१००॥

तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा उत्तमट्ठ गवेसए ।
जेणप्पाण पर चेव सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥१०१॥

णाण-देसणा

जेण तच्च विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज त णाण जिण-सासणे ॥१०२॥

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मेत्ती पभावेज्ज त णाण जिण-सासणे ॥१०३॥

निम्नलिखित पन्द्रह स्थान—गुणवालेको विनयी कहते है— १. नमनशील, २ अचपल, ३ सरल स्वभावी, ४ अकुतूहली, प्रयोजन-हीन बातोसे दूर रहनेवाला, ५ अपनी छोटी-सी भूलको भी दूर करनेमे प्रयत्नशील, ६. क्रोध, कषायकी वृद्धि करनेवाले प्रबन्धो या बाधाओसे दूर रहनेवाला, ७ सबके साथ मित्रभावसे रहनेवाला, ८ शास्त्र पढकर भी ज्ञानके मदसे रहित, ९. पापकी उपेक्षा न करनेवाला, १० मित्रोके प्रति कोप नही करनेवाला, ११ अप्रिय मित्रके विपयमे एकान्तमे भी कल्याणकारी ही बोलनेवाला, १२ कलह तथा उपद्रवका त्यागी, १३ बुद्धिमे लगनशील, १४ सत्कुलीन एव १५ सयमकी लज्जा रखनेवाला। ऐसे शिष्यको सुविनीत कहते है ॥९४–९७॥

जो सदैव गुरुकुलमे रहकर योग तथा तपश्चर्या करता है, मधुर बोलता और शुभ कार्यकारी है वह शिष्य शिक्षा प्राप्त करने योग्य है ॥९८॥

जैसे अन्धकारका नाश करनेवाला उदित होता हुआ सूर्य तेजसे देदीप्यमान होता है वैसे ही आत्मज्ञानके तेजसे बहुश्रुत विद्वान् तेजस्वी होता हे ॥९९॥

जैसे तारापति चन्द्रमा ग्रह तथा नक्षत्रोसे घिरा हुआ पूर्णिमाकी रात्रिको पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलतासे बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता हे ॥१००॥

इसलिए उत्तम अर्थकी गवेषणा करनेवाला सत्यशोधक भिक्षु श्रुतज्ञानमे अधिष्ठान करे जिससे वह स्वय सिद्धि प्राप्तकर दूसरोको भी सिद्धि प्राप्त करा सके ॥१०१॥

ज्ञान-देशना

जिसके द्वारा तत्त्वोका बोध हो, जिससे चित्तका निरोध हो तथा जिससे आत्मा विशुद्ध हो उसे जैन-शासनमे ज्ञान कहा गया है ॥१०२॥

जिसके द्वारा रागोसे विरक्ति हो तथा श्रेयमे अनुराग हो एव जिससे समस्त जीवोके प्रति मैत्रीभाव जागत् हो वही जैन-शासनमे ज्ञान कहलाता है ॥१०३॥

जाणइ तिकाल-विसए दव्व-गुणे पज्जए य बहु-भेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणे त्ति णं वेंति ।।१०४।।

णाण-भेदा

पंचेव होंति णाणा मदि-सुद-ओही मणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो केवल-णाणं हवे खइय ।।१०५।।

अहिमुह-णियमिय-बोहण आभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
अवगह-ईहावाया धारणगा होंति पत्तेयं ॥१०६॥

विसयाणं विसयीणं संजोगाणनरं हवे णियमा ।
अवगह-णाण गहिदे विसेस-कंखा हवे ईहा ॥१०७॥

ईहण-करणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु ।
कालंतरे वि णिण्णिद-वत्थु-समरणस्स कारणं तुरियं ॥१०८॥

अत्थादो अत्थंतरमुवलभं तं भणति सुद-णाणं ।
आभिणिबोहिय-पुव्वं णियमेणिह सद्दजप्पमुह ॥१०९॥

अवहीयदि त्ति ओही सीमा-णाणे त्ति वण्णियं समये ।
भव-गुण-पच्चय-विहियं जमोहि-णाणे त्ति णं वेति ॥११०॥

दव्व खेत्तं कालं भावं पडिरूवि जाणदे ओही ।
अवराढुक्कस्सो त्ति य वियप्प रहिदो दु सव्वोही ॥१११॥

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मनकी सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक मतिज्ञान कहते है। इसमे प्रत्येकके अवग्रहा, ईहा, अवाय, धारणा ये चार अन्य भेद हैं ॥१०६॥

पदार्थ और इन्द्रियोका योग्य क्षेत्रमे अवस्थान रूप सम्बन्ध होनेपर सामान्यका अवलोकन करनेवाला दर्शन होता है जो परपदार्थोन्मुख आत्मावधान रूप है। और इसके अनन्तर बाह्य वस्तुओके विशेष आकार आदिकको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थको अवग्रहने सामान्यतः ग्रहण किया है उसके ही किसी विशेष स्वरूपको ग्रहण करनेका प्रेरक ईहा ज्ञान होता है ॥१०७॥

ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष चिह्नोको देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा, वेश, विन्यास आदिको देखकर यह दाक्षिणात्य ही है इस तरहके निश्चयको अवाय कहते है। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमे भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते है। ये चारो मतिज्ञानके विकासात्मक चरण है जो इन्द्रियो और मनकी सहायतासे ही सम्पन्न होते है ॥१०८॥

मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थके आधारसे किसी भिन्न किन्तु सम्बन्धित पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। अत यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंग-जन्य इस तरहसे दो भेद है इनमे मुख्य शब्दजन्य श्रुतज्ञान है। विशेष—सुनकर व पढकर जो वस्तुज्ञान होता है वह सब शब्दजन्य श्रुतज्ञान है। और जब एक वस्तुको देखकर अन्य का अनुमान किया जाता है जैसे धूमको देखकर अग्निका तव वह लिंगजन्य श्रुतज्ञान कहलाता है ॥१०९॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते है इसीलिए परमागममे इसको सीमाज्ञान कहा है। तथा इसके जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं—एक भावप्रत्यय और दूसरा गुणप्रत्यय। भवाप्रत्यय अवधिज्ञान सभी स्वर्ग और नरकवासी जीवोंके होता है किन्तु गुणप्रत्यय केवल विशेष ऋद्धिवान् मनुष्यो व पशुओको ही प्राप्त हो सकता है ॥११०॥

जघन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त समस्त अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे रूपी पुद्गल द्रव्यको ही जानता है तथा उसके सम्बन्धसे ससारी जीव-द्रव्यको भी जानता है। किन्तु सर्वावधि-ज्ञानमे जघन्य-उत्कृष्ट आदि भेद नही हैं—वह निर्विकल्प है ॥१११॥

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं-चिंतियमणेय-भेय-गयं।
मणपज्जव ति वुच्चइ ज जाणइ तं खु णर-लोए ॥११२॥

संपुण्ण तु समग्गं केवलमसवत्त-सव्व-भाव-गदं।
लोयालोय-वितिमिरं केवल-णाण मुणेदव्वं ॥११३॥

सुद-केवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुद-णाणं तु परोक्खं पच्चक्ख केवलं णाण ॥११४॥

आदा णाण-पमाणं णाणं णेय-प्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्व-गयं ॥११५॥

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेति ॥११६॥

सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण-याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्द जिणा बेति ॥११७॥

जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाण च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥११८॥

णाणमय अप्पाण उवलद्धं जेण झडिय-कम्मेण।
चइऊण य पर-दव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥११९॥

दव्व-णाणं

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं।
गुण-पज्जयासयं वा ज तं भण्णति सव्वण्हू ॥१२०॥

सत्ता सव्व-पयत्था सविस्स-रूवा अणंत-पज्जाया ।
भंगुप्पाद-धुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥१२१॥

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भाव-पज्जयाइं जं ।
दवियं त भण्णंति अणण्ण-भूदं तु सत्तादो ॥१२२॥

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
वय-उप्पाद-धुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥१२३॥

पज्जय-विजुदं दव्वं दव्व-विजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्ह अणण्ण-भूदं भावं समणा परूवेंति ॥१२४॥

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरितो भावो दव्व-गुणाणं हवदि तम्हा ॥१२५॥

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुण-पज्जयेसु भावा उप्पाद-वए पकुव्वंति ॥१२६॥

जीवा पोग्गल-काया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
छद्दव्वा इदि भणिदा णाणा-गुण-पज्जएहिं संजुत्ता ॥१२७॥

जीव-णाण

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढ-गइ ॥१२८॥

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्व-काल अणण्ण-भूदं वियाणीहि ॥१२९॥

वण्ण रस पंच गधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥१३०॥

पुग्गल-कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण-कम्माणादा सुद्ध-णया सुद्ध-भावाणं ॥१३१॥

जह पउमराय-रयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेह-मत्तं पभासयदि ॥१३२॥

तिक्काले चदु पाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिन्छय-णयदो दु चेदणा जस्स ॥१३३॥

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सोक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१३४॥

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि-सुगदी ॥१३५॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१३६॥

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देव-मणुस्सत्त-पज्जाओ ॥१३७॥

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीव-भावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१३८॥

जायदि जीवस्सेव भावो संसार-चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादि-णिधणो सणिधणो वा ॥१३९॥

जाइ-जर-मरण-रहियं परमं कम्मट्ठ-वज्जियं सुद्धं।
णाणाइ-चउ-सहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१४०॥

अधम्म-दव्व-णाणं

ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाण गच्छंता णेव सो धरई ॥१४९॥

आगास-दव्व-णाणं

अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीण वियाण आगासं ।
जेण लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१५०॥

धम्माधम्मा कालो पुग्गल जीवा य संति जावदिए ।
आगासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगो त्ति ॥१५१॥

आदि-णिहणेण हीणो पगदि-सरूवेण एस संजादो ।
जीवाजीव-समिद्धो सव्वण्हालोइओ लोगो ॥१५२॥

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाण-परिमाणा ।
पुधगुवलद्धि-विसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥१५३॥

काल-दव्व-णाणं

दव्व-परिवट्ट-रूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादी-लक्खो वट्टण-लक्खो य परमट्ठो ॥१५४॥

लोयायास-पदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख-दव्वाणि ॥१५५॥

अधर्म द्रव्य

जब पुद्गल व जीव द्रव्य ठहरना चाहते है तब अधर्म द्रव्य उनके ठहरनेमे सहकारी कारण होता है। जिस प्रकार कि यात्रा करते हुए पथिकोको वृक्षादिकी छाया ठहरनेमे सहायक होती है। किन्तु गमनशील पुद्गल और जीवोको अधर्म द्रव्य बलपूर्वक ठहराता नही है ॥१४९॥

आकाश द्रव्य

जो द्रव्य जीवादि पदार्थोको अवकाश प्रदान करनेकी योग्यता रखता है उसे आकाश द्रव्य समझना चाहिए। इस आकाश द्रव्यके दो भेद हैं— लोकाकाश और अलोकाकाश ॥१५०॥

जितने आकाशमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल इन पाँच द्रव्योका सद्भाव पाया जाता है वह लोकाकाश है तथा उससे परे जहाँ ये द्रव्य न है और न जा सकते वह अलोकाकाश कहा जाता है ॥१५१॥

यह लोक जो जीव और अजीव द्रव्योसे परिपूर्ण है उसका न आदि है और न अन्त। वह प्रकृतिसे ही बिना किसी स्रष्टाके उत्पन्न हुआ है। उसे पूर्ण रूपसे तो सर्वज्ञ भगवान्ने ही अवलोकन किया है ॥१५२॥

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक दूसरेसे पृथक् नही किये जा सकते। उनका प्रमाण भी समान ही है। इस दृष्टिसे उनमे एकत्व भी है तथा उनके पृथक्-पृथक् विशेष कार्य पाये जानेसे उनमे भिन्नता भी है ॥१५३॥

काल द्रव्य

काल द्रव्यको दो प्रकारसे समझा जा सकता है। एक तो वह काल जो द्रव्यमे परिवर्तन रूपसे दिखाई देता है और इसलिए उसे व्यवहार काल कहते है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे कालका लक्षण है वर्तना व परिणाम आदि। वर्तनाका अर्थ है जीवादि द्रव्योका सत्तामे बना रहना तथा परिणामका अर्थ है उनकी पर्यायोका बदलना ॥१५४॥

लोकाकाशके एक-एक प्रदेश अर्थात् आकाशके अविभाज्य अशपर जो एक-एक स्थित है जैसे रत्नोकी राशि उन्हे कालाणु समझना चाहिए। ये कालाणु पृथक्-पृथक् असख्य हैं ॥१५५॥

आगास-काल-जीवा धम्माधम्मा य मुत्ति-परिहीणा।
मुत्तं पुग्गल-दव्वं जीवो खलु चेयणो तेसु ॥१५६॥

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सग सभावं ण विजहंति ॥१५७॥

सण्णा-णाणं

आहार-भय-परिग्गह-मेहुण-सण्णाहि मोहिओ सि तुम।
भमिओ संसार-वणे अणाइ-काल अणप्प-वसो ॥१५७(क)॥

इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुण दुक्खं।
सेवंता वि य उभओ ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥१५७(ख)॥

आहार-दंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोट्ठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहार-सण्णा हु ॥१५७(ग)॥

अइ-भीम-दंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम सत्तीए।
भय-कम्मुदीरणाए भय-सण्णा जायदे चदुहिं ॥१५७(घ)॥

पणिद-रस-भोयणेण य तस्सुवजोगे कुसील-सेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुण-सण्णा हवदि एवं ॥१५७(ङ)॥

उवयरण-दंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥१५८(च)॥

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान् है तथा केवल एक जीव द्रव्य ही चेतना गुणसे युक्त है ॥१५६॥

ये समस्त द्रव्य एक दूसरेमे प्रविष्ट होने तथा परस्पर अवकाश प्रदान करनेकी योग्यता रखते हैं। इसीलिए तो असख्य-प्रदेशीय लोकाकाशमे अनन्त जीव व अनन्त पुद्गल परमाणु रह सकते है। इस प्रकार वे मिलते तो अवश्य है तथापि वे कभी भी अपने स्वभावसे विचलित नही होते ॥१५७॥

संज्ञा-ज्ञान

आहार, भय, परिग्रह और मैथुन ये संसारी जीवकी चार सज्ञाएँ (मौलिक व साधारण चेतनाएँ) हैं। इनसे मोहित होकर, हे जीव, पर-वश होता हुआ तू अनादि कालसे ससाररूपी वनमे भ्रमण कर रहा है ॥१५७ (क)॥

इस लोकमे जिनके द्वारा बाधित होते हुए जीव दारुण दुखको प्राप्त होते हैं तथा मनसे व शरीरसे दोनो प्रकार जिनका सेवन करते है ऐसी वे चार सज्ञाएँ है ॥१५७ (ख)॥

आहार अर्थात् खाने योग्य पदार्थ देखकर उस ओर अपना चित्त देकर, खाली पेट होनेके कारण तथा साता अथवा असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेसे आहार नामक प्रथम सज्ञा जागृत होती है ॥१५७(ग)॥

अत्यन्त भयकर वस्तुको देखकर व उसपर चित्त देकर एव अपनी शक्तिकी दुर्बलताके कारण तथा भय नामक मोहनीय नो-कर्मकी उदीरणा होनेसे उक्त चारो हेतुओंके सयोगके कारण जीवके भय सज्ञा उदित होती है ॥१५७ (घ)॥

स्वादिष्ट व रसीले भोजनसे चित्तमे सम्भोगकी इच्छा उत्पन्न होनेपर कुशील-सेवनकी ओर झुकता और साथ ही वेद नामक मोहनीय नो-कर्मकी उदीरणा हो उठती है तब इस प्रकार जीवकी मैथुन सज्ञा जागृत होती है ॥१५७(ङ)॥

जीवको जब किसी उपयोग व अपने कामकी वस्तु देखकर और उसपर ध्यान देकर जो लोभ नामक मोहनीय कर्मकी उदीरणाके कारण उसे पानेका मोह उत्पन्न होनेपर परिग्रह सज्ञा होती है ॥१५७(च)॥

गति-ज्ञान

गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको अथवा चारो गतियोमे गमन करनेके कारणको गति कहते है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ॥१५८॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमे स्वय तथा परस्परमे स्नेह नही करते अतएव उनको नारत न-आरत या नारकी कहते है ॥१५९॥

जो मन, वचन, कायकी कुटिलताको प्राप्त हो अथवा जिनकी आहारादि विषयक सज्ञा दूसरे मनुष्योको अच्छी तरह प्रकट हो और जो निकृष्ट अज्ञानी हो तथा जिनमे अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाये उनको तिर्यंच कहते हैं ॥१६०॥

जो नित्य ही हेय, उपादेय, तत्त्व, अतत्त्व व धर्म, अधर्मका विचार करे और जो मनके द्वारा गुण-दोषादिका विचार तथा स्मरण आदि कर सके जो पूर्वोक्त मनके विषयमे उत्कृष्ट हो तथा युगके आदिमे जो मनुओसे उत्पन्न हुए हो उनको मनुष्य कहते है ॥१६१॥

जो देवगतिमे होनेवाले परिणामोसे सदा सुखी रहते है और अणिमा-महिमा आदि दिव्य भाव रूप आठ गुणो ऋद्धियोके द्वारा सदा देदीप्यमान होते हुए विहार करते है तथा जिनका शरीर रूप, लावण्य, यौवन आदि गुणोसे सदा कान्तिमान् रहे उनको देव कहा गया है ॥१६२॥

इन गतियो सम्बन्धी निम्न दृष्टान्त समझने योग्य है। तीन व्यापारी कुछ मूलधन लेकर घरसे निकले। उनमे-से एकने लाभ कमाया। दूसरा जितनाका तितना मूलधन लेकर लौट आया तथा तीसरा व्यापारी अपना मूलधन भी गँवा आया। यह व्यावहारिक उपमा है। इसीके अनुसार धर्मके विषयमे समझना चाहिए। मनुष्य गति हमारा मूल धन है। उससे सत्कर्मो द्वारा देवगति प्राप्त करना लाभ है तथा अधर्म करके नरक व तिर्यंच गति प्राप्त करना जीवोके मूलधनकी हानि है। ये मूलधन-विनाशक दोनो गतियाँ अज्ञानीके होती है जिसके फलस्वरूप उसे विपत्ति-वध आदि क्लेश भोगने पडते हैं। किन्तु देव और मनुष्य ये दो गतियाँ इच्छा पूर्वक प्राप्त कर जीने योग्य हैं ॥१६३-१६६॥

पाँचवी सिद्ध गति है जिसमे जन्म, जरा, मरण, भय, सयोग और वियोग आदि दुखोका अनुभव नहीं होता तथा जिसमे रोगादिक पीडाएँ भी नही होती ॥१६७॥

जोग-णाणं

पुग्गल-विवाइ-देहोदयेण मण-वयण-काय-जुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम-कारणं जोगो ॥१६८॥

मण-वयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभय-अणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा ॥१६९॥

सब्भाव-मणो सच्चो जो जोगो तेण सच्च-मण-जोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभय सच्चमोसो त्ति ॥१७०॥

ण य सच्च-मोस-जुत्तो जो दु मणो सो असच्च-मोस-मणो ।
जो जोगो तेण हवे असच्च-मोसो दु मण-जोगो ॥१७१॥

दसविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्च-वचि-जोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्च-मोसो त्ति ॥१७२॥

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्च-मोस-वचि-जोगो ।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥१७३॥

जणवद-सम्मदि-ठवणा-णामे रूवे पडुच्च ववहारे ।
संभवाणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥१७४॥

योग-ज्ञान

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन, वचन, कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोके ग्रहण करनेमे कारणभूत शक्ति है उसीको योग कहते हैं ॥१६८॥

सत्य-असत्य, उभय तथा अनुभय इन चार प्रकारके पदार्थोमे-से जिस पदार्थको जानने या कहनेके लिए जीवके मन, वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वचनका ही नाम होता है। और उसके सम्बन्धमे उस प्रवृत्तिका भी वही नाम होता है ॥१६९॥

समीचीन भाव मनको, पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको अर्थात् समीचीन पदार्थ को विषय करनेवाले मनको सत्य मन कहते हैं। और उसके द्वारा जो मनोयोग होता है उसको सत्य मनोयोग कहते हैं। सत्यसे जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं तथा सत्य और मिथ्या दोनो ही प्रकारके मन को उभय मन कहते हैं ॥१७०॥

जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृपा मन कहते है। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृपा मनोयोग कहते हैं ॥१७१॥

दस प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्य वचन और उससे होनेवाले योगको सत्य वचन योग कहते हैं। तथा इसके जो विपरीत है उसको मृपा और जो कुछ सत्य और कुछ मृपाका वाचक है उसको उभय वचन योग कहते हैं ॥१७२॥

जो न तो सत्यरूप हो और न ही मृपारूप हो उसको अनुभय वचन योग कहते हैं। असञ्ज्ञियोकी समस्त भापा और सञ्ज्ञियोकी आमन्त्रणी आदिक भापा अनुभय भापा कही जातो है ॥१७३॥

जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्य-सत्य, व्यवहारसत्य, सम्भावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य इस प्रकार सत्यके दस भेद है ॥१७४॥

भत्तं देवी चंदप्पह-पडिमा तह य होदि जिणदत्तो ।
सेदो दिग्घो रथदि कूरो त्ति य ज हवे वयण ॥१७५॥

सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि पाव-वज्ज-वयणं च ।
पल्लोवम च कमसो जणवद-सच्चादि-दिट्ठंता ॥१७६॥

आमंतणि आणवणि जायणि यापुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी ससय-वयणी इच्छाणुलोमा य ॥१७७॥

णवमी अणक्खर-गदा असच्च-मोसा हवंति भासाओ ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तस-संजणया ॥१७८॥

पुरु-महदुदारुराल एयट्ठो सविजाण तम्हि भव ।
ओरालिय तमुच्चइ ओरालिय-काय जोगो सो ॥१७९॥

विविह-गुण-इड्ढि-जुत्त विक्किरिय वा हु होदि वेगुव्वं ।
तिस्से भवं च णेय वेगुव्विय-काय-जोगो सो ॥१८०॥

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अत्थे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलि-पास तम्हा आहारगो जोगो ॥१८१॥

कम्मेव य कम्म-भव कम्मइयं जो दु तेण सजोगो ।
कम्मइय-काय-जोगो इगि-विग-तिग-समय-कालेसु ॥१८२॥

ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेज-णाम-कम्मुदये ।
चउ णोकम्म-सरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥१८३॥

इन दश भेदोके उदाहरण क्रमश. इस प्रकार हैं—१. किसी जनपदमे भक्त—भात पके हुए तन्दुलको कहते हैं। २ लोगोकी सर्वसम्मतिसे रानीको देवी कहते है। ३. एक पाषाणकी प्रतिमाको स्थापना निक्षेपके अनुसार चन्द्रप्रभ तीर्थंकरकी प्रतिमा कहते है। ५ किसी पुरुषका नाम जिनदत्त रख लिया जाता है तथापि उसके अर्थ जिन द्वारा दिये गये की कोई सार्थकता नही होती। ६ वस्तुके किसी रूपरग विशेषके अनुसार उसे श्वेत नामसे पुकारने लगते हैं। ७ किसी वस्तुको उससे छोटी वस्तुओकी अपेक्षा दीर्घ कहने लगते है। ८. चावल पकाना प्रारम्भ करनेपर ही कहते है कि वह भात राँध रहा है। ९. इन्द्र जम्बूद्वीपको उलट सकता है यह सम्भावना मात्र है क्योकि वस्तुतः इन्द्र कभी ऐसा काम करता नही है। १० एक विशेष काल-मानको पल्योपम कहते हैं जो उपमा मात्र है ॥१७५–१७६॥

आमन्त्रणी, आलापनी, याचनी, अपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, सशयवचनी, इच्छानुलोम्नी, अनक्षरगता ये नौ प्रकारकी अनुभयात्मक भाषा है। क्योकि इनके सुननेवालेको व्यक्त और अव्यक्त दोनो ही अशोका ज्ञान होता है ॥१७७-१७८॥

पुरु, महत्, उदार, उराल ये शब्द स्पर्शवाचक है। उदारमे जो हो उसको औदारिक तथा उदारमे होनेवाले काययोगको औदारिक काययोग कहते हैं ॥१७९॥

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोसे युक्त दैव तथा नारकियोके शरीर-को वैक्रियिक अथवा विगूर्व और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विक अथवा वैक्रियिक काययोग कहते है ॥१८०॥

छठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सन्देह होनेपर इस शरीरके द्वारा केवलीके पासमे जाकर सूक्ष्म पदार्थोका आरहण ग्रहण करता है इसलिए इस शरीरके द्वारा होनेवाले योगको आहारक काययोग कहते है ॥१८१॥

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोके समूहको अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली कायको कार्मणकाय और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाय योग कहते हैं। यह योग एक-दो अथवा तीन समय तक होता है ॥१८२॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले चार शरीरोको नोकर्म कहते हैं। और कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोके समूहको कार्मण शरीर कहते है ॥१८३॥

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव-संजणया ।
ते होंति अजोगि-जिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया ॥१८४॥

पुरिसित्थि-सढ-वेदोदयेण पुरिसित्थि-सढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥१८५॥

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुण व दोसं वा ॥१८६॥

तिण-कारिसिट्ठ-पागग्गि-सरिस-परिणाम-वेदणुम्मुक्का ।
अवगय-वेदा जीवा सग-सभवणंत-वर-सोक्खा ॥१८७॥

कसाय-णाणं

सुह-दुक्ख-सुवहु-सस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसार-दूर-मेर तेण कसाओ त्ति णं वेंति ॥१८८॥

सिल-पुढवि-भेद-धूली जलराइ-समाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१८९॥

सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णिय-भेएणणुहरंतओ माणो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१९०॥

वेणुव-मूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामर-गईसु खिवइ जियं ॥१९१॥

जिनके पुण्य और पापके कारणभूत शुभाशुभ योग नही है उनको अयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनन्त बल करके युक्त होते हैं ॥१८४॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे क्रमश. भावपुरुष, भावस्त्री और भावनपुसक होता है। और नामकर्मके उदयसे क्रमशः द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री तथा द्रव्यनपुसक होता है। ये भाववेद और द्रव्यवेद प्राय समान होते है परन्तु कही-कही विषम भी होते हैं। भावार्थ—यह विषमता उन मनुष्योमे देखी जाती है जो पुरुषलिंगी होकर भी नपुसक होते है अथवा स्त्रीलिंगी होकर भी भोगके अयोग्य व वन्ध्या होती हैं ॥१८५॥

वेदनोकषायके उदय अथवा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोमे बडा भारी मोह उत्पन्न होता है। और इस मोहके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोषका विचार नही कर सकता ॥१८६॥

तृणकी अग्नि, कारीष अग्नि, इष्टपाक अग्नि, अवाकी अग्निके समान वेदके परिणामोंसे रहित जीवोको अपगत वेद कहते है। ये जीव अपनी आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगते हैं ॥१८७॥

कषाय-ज्ञान

जीवके सुख-दुख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी ससाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रका यह कर्षण करता है इसलिए इसको कषाय कहते हैं ॥१८८॥

क्रोध चार प्रकारका होता है—१. पाषाणकी रेखाके समान, २. पृथ्वीकी रेखाके समान, ३. धूलिरेखाके समान और ४ जलरेखाके समान। ये चारो प्रकारके क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गतिमे उत्पन्न करनेवाले हैं ॥१८९॥

मान भी चार प्रकारका होता है—पाषाणके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा बेंतके समान। ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगतिके उत्पादक हैं ॥१९०॥

माया भी चार प्रकारकी होती है—बाँसकी जडके समान, मेढेके सीगके समान, गोमूत्रके समान व खुरपाके समान। यह चार प्रकारकी माया भी क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमे ले जाती है ॥१९१॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्द-राएण सरिसओ लोहो ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवुप्पायओ कमसो ॥१०२॥

अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त कोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥१०३॥

दंसण-णाणं

जं सामण्णं गहणं भवाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥१९४॥

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खु-दंसणं बेंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति ॥१९५॥

परमाणु-आदियाइं अंतिम-खंध त्ति मुत्ति-दव्वाइं ।
तं ओहि-दंसणं पुण जं पस्सइ ताइँ पच्चक्खं ॥१९६॥

बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोगालोग-वितिमिरो जो केवल-दंसणुज्जोओ ॥१९७॥

ग परप्पयासं दिट्ठी-अप्पप्पयासया चेव ।
हवदि पर-दव्व-गयं दंसणमिदि वण्णिद तम्हा ॥१९८॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्द-राएण सरिसओ लोहो ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवुप्पायओ कमसो ॥१०२॥

अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त कोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥१०३॥

दंसण-णाणं

जं सामण्णं गहणं भवाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥१९४॥

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खु-दंसणं बेंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति ॥१९५॥

परमाणु-आदियाइं अंतिम-खंध त्ति मुत्ति-दव्वाइं ।
तं ओहि-दंसणं पुण जं पस्सइ ताइँ पच्चक्खं ॥१९६॥

बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोगालोग-वितिमिरो जो केवल-दंसणुज्जोओ ॥१९७॥

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
ण हवदि पर-दव्व-गयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१

लोभ कषाय भी चार प्रकार का है—कृमिरागके समान, चक्रमल रथ आदिकके पहियोंके भीतरकी ओंगनके समान, शरीरके मलके समान और हल्दीके रंगके समान। ये भी क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतिके उत्पादक हैं ॥१९२॥

जिनके स्वयको, दूसरेको तथा दोनोको ही बाधा देने और बन्धनमे डालने तथा असंयम करानेमे निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नही हैं तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥१९३॥

दर्शन

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थोंके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्प रूपसे ग्रहण होता है उसको शास्त्रमे दर्शन कहते हैं। विशेषार्थ—वस्तुत. अन्तर्मुख चैतन्यरूप प्रकाशका नाम दर्शन और बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करानेवाले बहिर्मुख प्रकाशका नाम ज्ञान है। दर्शन और ज्ञानके इस भेदको पूर्ण ऊहापोह सहित धवलाकारने समझाया है। देखिए षट्खण्डागम सत्प्ररूपण, सूत्र ४ तथा १३१ की टीका ॥१९४॥

जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रियका विषय है उसका देखना अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाये अथवा उसके देखनेवालेको चक्षुदर्शन कहते हैं। और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके अथवा मनके द्वारा जो अपने-अपने विषयभूत पदार्थका सामान्य ग्रहण होता है उसको अचक्षु-दर्शन कहते हैं ॥१९५॥

परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त मूर्त द्रव्यको जो सामान्य रूपसे देखना है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शनके अनन्तर प्रत्यक्ष अवधिज्ञान होता है ॥१९६॥

तीव्र, मन्द, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्‌मे परिमित क्षेत्रमे रहते हैं किन्तु जो लोक और अलोकके अन्धकारको दूर कर प्रकाश करता है उसे केवल-दर्शन कहते हैं ॥१९७॥

ज्ञान परवस्तुका प्रकाश करनेवाला है तथा दर्शन केवल आत्म-प्रकाशक है क्योंकि वह परद्रव्यमें गमन नही करता इसलिए उसे दर्शन कहा गया है ॥१९८॥

लेस्सा-णाणं

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णिय-अपुण्ण-पुण्णं च ।
जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सा-गुण-जाणयक्खादा ॥१९९॥

जोग-पउत्ती लेस्सा कसाय-उदयाणुरंजिया होइ ।
तत्तो दोण्हं कज्जं बंध-चउक्कं समुद्दिट्ठं ॥२००॥

किण्हा णीला काऊ तेऊ पउमा य सुक्क लेस्सा य ।
लेस्साण णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥२०१॥

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।
मंदतरा मंदतमा छट्ठाण-गया हु पत्तेयं ॥२०२॥

असुहाण वर-मज्झिम-अवरंसे किण्ह-णील-काउ तिए ।
परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ॥२०३॥

काऊ णीलं किण्ह परिणमदि किलेस-वड्ढिदो अप्पा ।
एवं किलेस-हाणी-वड्ढीदो होदि असुह-तियं ॥२०४॥

तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादि-अंसगे अप्पा ।
सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णधा होदि ॥२०५॥

लेश्या ज्ञान

लेश्याके गुणको स्वरूपको जाननेवाले गणधरादि मुनियोने कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करे—पुण्य और पापके अधीन करे उसको लेश्या कहते है ॥१९९॥

वह लेश्या कषायोदयसे अनुरक्त योग प्रवृत्तिसे होती है। इसीलिए योग और कषाय इन दोनोका कार्य चार प्रकारका अर्थात् प्रकृति-प्रदेश-स्थित और अनुभागरूप कहा गया है ॥२००॥

लेश्याओंके नियमसे ये छह भेद होते हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल-लेश्या ॥२०१॥

अशुभलेश्या सम्बन्धी तीव्रतम, तीव्रतर व तीव्र ये तीन स्थान और शुभलेश्या सम्बन्धी मन्द, मन्दतर व मन्दतम ये तीन स्थान होते है क्योकि कृष्णलेश्यादि छह लेश्याओके शुभ स्थानोमे जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त और अशुभ स्थानोमे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त प्रत्येकमे षट्स्थान-पतित हानि-वृद्धि होती है। विशेषार्थ—गुणहानि, असख्यात गुणहानि, सख्यात गुणहानि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धि ये हानि-वृद्धिके छह स्थान व प्रकार है ॥२०२॥

सक्लेशकी उत्तरोत्तर हानि होनेपर आत्मा क्रमश कृष्ण, नील व कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अशरूपमे परिणमन करता है ॥२०३॥

उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामोकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्णलेश्या रूप परिणमन करता है। इसी प्रकार यह जीव सक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है ॥२०४॥

उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा पीत, पद्म व शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशरूपमे परिणमन करता है। तथा विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त शुक्ल, पद्म व पीत लेश्यारूप परिणमन करता है। इस प्रकार शुद्धिकी हानि-वृद्धि होनेसे शुभ लेश्याओका परिणमन होता है ॥२०५॥

चंडो ण मुयइ वेरं भंडण-सीलो य धम्म-दय-रहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥२०६॥

मंदो बुद्धि-विहीणो णिव्विण्णाणी य विसय-लोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥२०७॥

णिद्दा-वंचण-बहुलो धण-धण्णे होदि तिव्व-सण्णा य ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णील-लेस्सस्स ॥२०८॥

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो ॥२०९॥

ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पि व परं पि मण्णंतो ।
तूसइ अभित्थुवंते ण य जाणइ हाणि-वड्ढि वा ॥२१०॥

मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुग पि थुव्वमाणो दु ।
ण गणइ कज्जाकज्ज लक्खणमेयं तु काउस्स ॥२११॥

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व-सम-पासी ।
दय-दाण-रदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥२१२॥

चागी भद्दो चोक्खो उज्जुव-कम्मो य खमदि बहुग पि ।
साहु-गुरु-पूजण-रदो लक्खणमेयं तु पउमस्स ॥२१३॥

ण य कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा णेहो वि य सुक्क-लेस्सस्स ॥२१४॥

किण्हादि-लेस्स-रहिया संसार-विणिग्गया अणंत-सुहा ।
सिद्धि-पुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा ॥२१५॥

तीव्र क्रोधी, वैरको न छोडनेवाला, युद्धशील, धर्म और दयासे रहित दुष्ट जो किसीके भी वशमे न हो ये सब कृष्ण-लेश्यावालेके लक्षण है ॥२०६॥

मन्द, बुद्धिविहीन, विवेकरहित, इन्द्रिय-विषयोका लोलुपी, मानी, मायाचारी, आलसी, दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको सहसा न जान सके तथा जो अतिनिद्रालु और दूसरोको ठगनेमे अति दक्ष और धन-धान्यके विषयमे जिसकी अति तीव्र लालसा हो ये सक्षेपमे नीललेश्यावालेके लक्षण कहे गये हैं ॥२०७-२०८॥

रुष्ट होना,दूसरेकी निन्दा करना व उनको बहुत-से दूषण लगाना, शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होना, दूसरोके ऐश्वर्यादिकी ईर्ष्या करना व उनका तिरस्कार करना, नाना प्रकारसे अपनी प्रशसा करना, दूसरेपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरेको भी हीन स्वभावी मानना, स्तुति करनेवाले पर सन्तुष्ट हो जाना, अपनी हानि-वृद्धिको न समझ पाना, रणमे मरनेकी प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालोको खूब धन दे डालना, अपने कार्य-अकार्यको कुछ भी गणना न करना ये सब कापोतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥२०९–२११॥

अपने कार्य-अकार्य व श्रेय-अश्रेयको समझनेवाला हो, सबके विषयमे समदर्शी हो, दया और दानमे तत्पर हो, कोमल परिणामी हो ये पीत-लेश्यावालेके लक्षण हैं ॥२१२॥

दान देनेवाला हो, भद्र परिणामी हो, शुद्ध स्वभावी व निर्दोष कार्य-शील हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवोको सहन करनेवाला हो, साधुजनो व गुरु आदिके पूजन-सत्कारमे रुचि रखता हो ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥२१३॥

पक्षपात न करना, निदान न बाँधना, सब जीवोमे समदर्शी होना, इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष न करना, स्त्री-पुत्र-मित्र आदिमे अति स्नेहासक्त न होना ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं ॥२१४॥

जो कृष्ण आदि छहो लेश्याओसे रहित हैं, जन्म-मरणरूप ससार-समुद्रको पार कर चुके है तथा जो अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे तृप्त हैं और आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको प्राप्त हो गये है उन जीवोको लेश्याहीन, अयोगकेवली या सिद्ध भगवान् कहते है ॥२१५॥

कम्म-णाणं

अट्ठ कम्माइँ वोच्छामि आणुपुव्वि जहा-कम ।
जेहिं बद्धो अय जीवो संसारे परिवट्टइ ॥२१६॥

पयडी सील सहावो जीवंगाण अणाइ-संबंधो ।
कणओवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२१७॥

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।
पडिसमय स व्वंगं तत्तायस-पिंडओ व्व जल ॥२१८॥

कम्मत्तणेण एक्कं दव्व भावो त्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गल-पिंडो दव्वं तस्सत्ती भाव-कम्मं तु ॥२१९॥

त पुण अट्ठविह वा अडदाल-सय असख-लोग वो ।
ताण पुण घादि त्ति अघादि त्ति य होंति सण्णाओ ॥२२०॥

णाणस्सावरणिज्ज च दंसणावरण तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउ-कम्म तहेव य ॥२२१॥

णाम-कम्म च गोय च अतराय तहेव य ।
एवमेयाइँ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ ॥२२२॥

आवरण-मोह-विग्घ घादी जीव-गुण-घादणत्तादो ।
आउग-णामं गोद वेयणिय तह अघादि त्ति ॥२२३॥

केवलणाणं दसणमणतविरिय च खइय-सम्म च ।
खइय-गुणे मदियादी खओवसमिए य घादी दु ॥२२४॥

कर्म ज्ञान

अव मै यथाक्रम आनुपूर्वीसे प्राप्त कर्मोका वर्णन करता हूँ। जिनसे वँधकर यह जीव ससारमे परिभ्रमण करता है ॥२१६॥

प्रकृति, शील या स्वभाव ये एक ही अर्थके वाचक हैं। ऐसी कर्म प्रकृतियोसे जीवके समस्त अगोके साथ अनादिकालीन सम्बन्ध है। जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाणका मल उसके साथ ही रहता है इसी प्रकार जीवोका कर्मोके साथ अनादिकालीन सम्बन्ध स्वयसिद्ध है ॥२१७॥

शरीर नामकर्मके उदयके साथ ही जीव अपने समस्त अगोमे प्रति समय उसी प्रकार कर्म और नोकर्मरूपी पुद्गल वर्गणाओको ग्रहण करता है जिस प्रकार कि तपाया हुआ लोह-पिण्ड जलका ॥२१८॥

कर्मत्वकी अपेक्षा समस्त कर्मोको एक द्रव्य कहा जा सकता है। किन्तु द्रव्यकर्म और भावकर्मकी अपेक्षासे उसके दो भेद हो जाते है। जो जिस पुद्गल पिण्डको ग्रहण करता है वह द्रव्यकर्म है और उसकी फलदायिनी शक्तिका नाम भावकर्म है ॥२१९॥

कर्म अपनी फलदायिनी शक्तिके अनुसार आठ प्रकारका है और उन आठ कर्मोके १४८ प्रभेद होते है। अथवा उनकी विशेषताओकी अपेक्षा कर्मके असख्यात लोकप्रमाण भेद होते है। उक्त भेद-प्रभेदोके पुन दो भेद किये गये हैं। जिनके नाम हैं घातिकर्म और अघातिकर्म ॥२२०॥

कर्मके उक्त आठ भेदोके नाम इस प्रकार हैं—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय ॥२२१-२२२॥

इन आठ कर्मोमे-से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म कहलाते हैं क्योकि वे जीवके ज्ञानादि गुणोका घात करते हैं। अन्य चार अर्थात् आयु-नाम, गोत्र और वेदनीय ये अघातिकर्म हैं ॥२२३॥

जीवके स्वाभाविक गुण हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त वीर्य व क्षायिक सम्यक्त्व जो घातिकर्मोके सर्वथा क्षय होनेपर उदित होनेके कारण क्षायिक गुण कहलाते हैं। मति, श्रुत आदि विशेप ज्ञान क्षायोपशमिक है क्योकि वे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं। इनके घात करनेकी शक्तिके कारण ही उक्त कर्मोंको घातिकर्म कहा है ॥२२४॥

कम्म-कय-मोह-वड्ढिय-संसारम्हि य अणादि-जुत्तम्हि ।
जीवस्स अवट्ठाण करेदि आऊ हलि व्व णरं ॥२२५॥

गदि-आदि जीव-भेदं देहादी-पोग्गलाण भेद च ।
गदियंतर-परिणमण करेदि णामं अणेय-विह ॥२२६॥

संताण-कमेणागय-जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्च णीच हवे गोदं ॥२२७॥

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुह-सरूवयं सादं ।
दुक्ख-सरूवमसाद तं वेदयदीदि वेदणिय ॥२२८॥

पड-पडिहारऽसि-मज्जा-हलि-चित्त-कुलाल-भंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥२२९॥

सामण्ण-पच्चया खलु चउरो भण्ण-ति बंध-कत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥२३०॥

पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेस-भेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति ॥२३१॥

यह जन्म-मरणरूप ससार जीवके कर्मोसे उत्पन्न व मोहसे वर्धित होता है और इस प्रकार उसकी परम्परा अनादिकालसे चल रही है। एक गतिमे जीवकी निर्दिष्ट काल तक स्थिति आयुकर्मके द्वारा बँधती है जिस प्रकार कि काष्ठके खोडेमे फँसा हुआ मनुष्य अपने दण्डकी कालावधि तक एक ही स्थानपर रुका रहता है ॥२२५॥

गति आदिके अनुसार जीवोके भेद तथा देह आदिक पुद्गलोके भेद एवं अन्य गतिमे परिणमन अनेक प्रकारसे नामकर्म करता है ॥२२६॥

सन्तान परम्परासे आये हुए जीवोंके आचरणका नाम गोत्र है। उच्च गोत्र उच्च आचरण उत्पन्न करता है और नीच गोत्र नीच आचरणका जनक है ॥२२७॥

इन्द्रियो द्वारा जो अनुभव किया जाता है उसका नाम वेदनीय है, साता वेदनीय सुखरूप है और असाता वेदनीय दुख-रूप। इस प्रकार वेदन करानेके कारण ही इस कर्मका सार्थक नाम वेदनीय है ॥२२८॥

पर्दा पड़ा होनेसे उसके दूसरी ओरकी वस्तुपर दृष्टि नही जाती। द्वारपाल खडा हो तो वह भीतर जानेसे रोकता है। मधुलिप्त खड्ग मधु चाटनेसे सुख किन्तु धारसे काट देनेके कारण दुख उत्पन्न करता है। मद्य उसके पान करनेवालेकी चेतनाको विकृत कर देता है। खोडेमे फँसा हुआ मनुष्य नियत काल तक एक ही स्थानमे पड़ा रहता है। चित्रकार अच्छे-बुरे चित्र बनाता है। कुम्हार नाना प्रकारके पात्रोका निर्माण करता है। तथा भण्डारी दान दिये जानेमे बाधा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार ये भाव हैं उसी प्रकार क्रमश ज्ञानावरणादि आठ कर्मोकी प्रकृतियोको समझना चाहिए ॥२२९॥

सामान्य रूपसे निम्न चार कर्मबन्धके कर्ता कहे गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ॥२३०॥

कर्मबन्धके भी चार भेद है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। इनमेसे दो अर्थात् प्रकृति और प्रदेश योग मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग क्रोधादि कषायोके द्वारा होते है। विशेषार्थ—जिन पुद्गल परमाणुओका बन्ध किया जाता है उनका नाम प्रदेश है। उनमे ज्ञानावरणादिरूप जो स्वभाव उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते है। जितने काल तक उस कर्मकी मर्यादा है उसे स्थिति तथा उसकी तीव्र और मन्द फलदायिनी शक्तिको अनुभाग कहते है ॥२३१॥

अट्ठ-विहं पि य कम्मं सव्व पुग्गलमयं जिणा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्ख ति विपच्चमाणस्स ॥२३२॥

सव्व-जीवाण कम्म तु संगहे छद्दिसागय ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्व सव्वेण बद्धगं ॥२३३॥

कोहादिसु वट्टतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्व-दरसीहिं ॥२३४॥

जीव-परिणाम-हेदुं कम्मत्त पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गल-कम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥२३५॥

ण वि कुव्वदि कम्म-गुणे जीवो कम्मं तहेव जीव-गुणे ।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हं पि ॥२३६॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥२३७॥

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्च-उवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जा जीवाणं असद्दहाणत्तं ॥२३८॥

उदओ असजमस्स दु ज जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥२३९॥

तं जाण जोग-उदयं जो जीवाणं तु चेट्ठ-उच्छाओ ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदि-भावो वा ॥२४०॥

एदेसु हेदु-भूदेसु कम्मइय-वग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठ-विहं णाणावरणादि-भावेहिं ॥२४१॥

अट्ठ-विहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥२३२॥

सव्व-जीवाण कम्म तु संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धग ॥२३३॥

कोहादिसु वट्टतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्व-दरसीहिं ॥२३४॥

जीव-परिणाम-हेदुं कम्मत्त पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गल-कम्म-णिमित्त तहेव जीवो वि परिणमदि ॥२३५॥

ण वि कुव्वदि कम्म-गुणे जीवो कम्म तहेव जीव-गुणे ।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हं पि ॥२३६॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥२३७॥

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्च-उवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जा जीवाणं असद्दहाणत्त ॥२३८॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमण ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाण सो कसाउदओ ॥२३९॥

तं जाण जोग-उदयं जो जीवाणं तु चेट्ठ-उच्छाओ ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदि-भावो वा ॥२४०॥

एदेसु हेदु-भूदेसु कम्मइय-वग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठ-विहं णाणावरणादि-भावेहिं ॥२४१॥

जितना भी यह आठ प्रकारका कर्म बतलाया गया उसे जिन भगवान्-ने पुद्गल निर्मित कहा है और उसका फल ससारमे पड़े हुए जीवका दुख कहा जाता है ॥२३२॥

समस्त जीवोका यह कर्मरूपी पुद्गल प्रचय छहो दिशाओसे सगृहीत होता है। उसका प्रवेश जीवके समस्त प्रदेशोमे होता है और वह समस्त जीवको समस्त रूपसे बांध लेता है ॥२३३॥

जब जीव क्रोधादि कषायोके वशीभूत होता है तभी इस कर्मका सचय होता है। सर्वज्ञ भगवान्ने इस प्रकारसे जीवके कर्मबन्धका स्वरूप बतलाया है ॥२३४॥

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य ही जीवोके नाना परिणामोके हेतुभूत कर्मके रूपमे परिवर्तित होता है तथा पुद्गल कर्मोके निमित्तसे ही जीव भी नाना परिणाम रूप प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्यमे परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है ॥२३५॥

जीव स्वय कर्मोके गुण उत्पन्न नही करता और उसी प्रकार कर्म भी जीवके गुणोका जनक नही है। तथापि दोनोके परस्पर निमित्तसे दोनोका परिणमन होता है ऐसा जानना चाहिए ॥२३६॥

समस्त भौतिक भाव अज्ञानमय हैं। अज्ञान ही तो भावरूप हो जाता हे इसीलिए अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानरूप हैं ॥२३७॥

जबतक जीवोमे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नही होती तबतक उनमे अज्ञान-का उदय होता है। तथा जबतक जीवोमे तत्त्वोके प्रति श्रद्धानका अभाव है तवतक उनमे मिथ्यात्वका उदय होता है ॥२३८॥

जीवोके असयमका उदय ही उनकी अविरति व व्रत-हीनता है तथा कषायोका उदय ही जीवोका कलुषोपयोग अर्थात् मलिन बातोमे मन लगाना है ॥२३९॥

जीवोका जो मन, वचन, कायकी नाना चेष्टाओमे उत्साह होता है उसीको उनके योगका उदय समझना चाहिए। यह योगोदय अर्थात् मन, वचन व कायकी क्रियाएँ कभी शुभ होती हैं और कभी अशुभ। इन दोनो प्रकारकी चेष्टाओसे विरतिका भाव रखना उचित है ॥२४०॥

उपर्युक्त हेतुओंके सद्भावसे जीवमें प्रविष्ट हुई कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि भावरूप आठ प्रकारके कर्मोमे परिवर्तित हो जाती है ॥२४१॥

अशुभ कर्मको ही कुशील तथा शुभ कर्मको सुशील समझिए। वह सुशील कैसे हो सकता है जो जीव जन्म-मरणादि दुखोसे युक्त ससारमे प्रवेश व भ्रमण कराता है ॥२४२॥

किन्तु आत्मा स्वय जिस शुभ या अशुभ भावको धारण करता है वह केवल उसीका कर्ता माना जा सकता है। वही उसका कर्म होता है और उसीका वह वेदन अर्थात् कर्म-फल-भोक्ता वनता है ॥२४३॥

जव कोई साधु ईर्यासमितिके नियमोका पालन करता हुआ सावधानी पूर्वक गमन कर रहा हो तव उसके पैर उठाते समय यदि उसके नीचे कोई छोटा जीव आ जाये व उसकी चपेटमे आकर मर जाये तो उस साधु पुरुपको उस जीवकी मृत्युके निमित्तसे लेशमात्र भी कर्म-वन्ध नही होगा क्योकि वह साधु पुरुप अप्रमत्त है अर्थात् किसी प्रमाद या भूलका दोपी नही है क्योकि हिसा तो तव होती है जव प्रमादके वशीभूत होकर जीव-हिसा की जाये। चारित्रशास्त्रका ऐसा ही नियम है ॥२४४–२४५॥

भाव सहित किया हुआ कर्म चाहे वह शुभ हो और चाहे अशुभ वह जीवको कर्मके वन्धनमे डालता ही है। जैसे वेड़ीकी साँकल चाहे सोने की हो और चाहे लोहे की वह दोपी पुरुपको वाँधकर रखती ही है ॥२४६॥

जव जीव अपने पूर्वकृत कर्मोका फल भोगता हुआ सुख या दुखका अनुभव करना है तव वह उसी अनुभूतिके साथ पुन पूर्वोक्त आठ प्रकारके दुखदायी कर्मोका वीज वो लेता है और इस प्रकार जीवके कर्म और कर्मफलकी परम्परा चलती रहती है ॥२४७॥

इस ससारमे भिन्न-भिन्न प्रकारके गोत्रकर्मके कारण विविध जातियोमे तथा विभिन्न स्थानोमे प्रजाएँ जीवराशि पैदा होती है और उनसे यह विश्व व्याप्त हो रहा है ॥२४८॥

अपने अधम कर्मोसे कभी यह जीव देवलोकोमे जाता है, कभी नरकोमे और कभी असुरोका शरीर धारण करता है ॥२४९॥

कभी क्षत्रिय होता है तो कभी चाण्डालादि नीच जातियोमे जा गिरता है। वहाँसे निकलकर वह कीट, पतग अथवा उनसे भी क्षुद्र कुन्थु व पिपीलिका आदि जन्तुओके शरीर धारण कर लेता है ॥२५०॥

इस प्रकार अपने कर्मोकी मलिनताके कारण प्राणी उक्त नाना प्रकारकी जीव योनियोमे भ्रमण करते हुए जन्म-मरणकी शृखलारूप ससारसे निवृत्ति नही पाते। जिस प्रकार कि क्षत्रिय भी अपनी समस्त कामनाओकी पूर्तिसे सन्तुष्ट नही हो पाते अर्थात् उनकी कुछ न कुछ अतृप्तियाँ वनी ही रहती है ॥२५१॥

कर्मोके फन्दोमे फँसे हुए और तज्जन्य क्लेशसे दुखी जीव अमानुषी नरक या तिर्यंच गतिमे चले जाते है ॥२५२॥

कर्मोका अधिक नाश होनेपर शुद्धिप्राप्त जीवात्मा अनुक्रमसे कभी मनुष्य योनिको प्राप्त होते है ॥२५३॥

मनुष्य-शरीर पाकर भी उस सत्य धर्मका श्रवण दुर्लभ है जिस धर्मका श्रवण करनेसे जीव तपश्चर्या, क्षमा और अहिंसाको पा सके ॥२५४॥

कदाचित् वैसा सत्य-श्रवण मिल भी जाये फिर भी उसपर श्रद्धा होना, सत्य धर्मपर पूर्ण अडग प्रतीति होना तो वहुत ही दुर्लभ है क्योकि न्यायमार्ग मुक्तिमार्गको सुननेपर भी वहुत-से जीव पतित होते हुए देखे जाते है ॥२५५॥

मनुष्यत्व सत्य श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होनेपर भी सयमकी शक्ति प्राप्त होना अति कठिन है। वहुत-से जीव सत्यको रुचिपूर्वक सुनते तो है किन्तु उसको आचरणमे नही ला सकते ॥२५६॥

मनुष्यत्वको प्राप्त कर जो जीव धर्म सुनकर श्रद्धालु वनता हे वह पूर्वकर्मको रोककर शक्ति प्राप्त करता है और सयम धारण कर तपस्वी वनकर कर्मजालका नाश कर डालता है ॥२५७॥

शुद्धि तो सरल आत्माकी होती है और शुद्ध मनुष्यके अन्त करणमे ही धर्म स्थिरतासे ठहर सकता है। ऐसा जीव घीसे सिंचित अग्निकी तरह शुद्ध होकर क्रमश श्रेष्ठ मुक्तिको प्राप्त करता है ॥२५८॥

वालक, अज्ञानी व मूर्खका वालत्व अज्ञान तो देखो जो धर्मको छोडकर अधर्मको अगीकार कर अर्थात् अधर्मी वनकर नरकमे उत्पन्न होता है ॥२५९॥

सत्य धर्मपर चलनेवाले धीर पुरुषका धीरपन देखो जो धर्मिष्ठ हो अधर्मसे दूर रहकर देवत्व प्राप्त करता देवगतिमे उत्पन्न होता है ॥२६०॥

श्रद्धा सत्यपर दृढ विश्वासरूपी नगर, सवर, तपरूपी अर्गला, क्षमा-रूपी कुशल गढ, तीन गुप्ति, मन, वचन और कायके सुनियमसे सुरक्षित व दु प्रधर्ष पुरुषार्थ रूपी धनुष, ईर्या विवेकपूर्वक गमनागमनरूपी प्रत्यंचा-धनुपकी डोरी और धैर्यरूपी तूणीर बनाकर सत्यके साथ परिमन्थन-सत्यचिन्तन करना चाहिए ॥२६१-२६२॥

तपश्चर्यारूपी वज्र बाणोसे सज्जित मुनि कर्मरूपी कवचको चीरकर संग्राममे विजयी होता है और ससारसे मुक्त होता है ॥२६३॥

जिस प्रकार बीजके दग्ध हो जानेपर पुन. उससे अकुरकी उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार कर्मरूपी बीज और उससे उत्पन्न होनेवाले जन्म-जन्मान्तररूपी अकुरका विनाश करना चाहिए ॥२६४॥

जन्मका अभाव हो जानेपर बुढापा नही सताता, न मरण होता और न कोई भय ससारमे भ्रमणकी सम्भावना रहती। इन सब दुखात्मक परिस्थितियोका अभाव हो जानेपर जीवोको परम सुखका अनुभव क्यो नही होगा ॥२६५॥

कही पर जीवात्मा बलिष्ठ होता है तो कहीपर कर्म बलवान् होता है। इस कारण अनन्त जीव सिद्ध भी हो चुके है और अनन्त जीव भव-सागरमे पडे हुए हैं ॥२६६॥

जिनेन्द्र भगवान्के वचनोसे उत्पन्न हुई जीवोकी शक्ति द्वारा उन अनन्त जीवोने अत्यन्त दारुण कर्मोका क्षय करके सिद्धि प्राप्त कर ली है ॥२६७॥

किन्तु उन सिद्धिप्राप्त जीवोसे अनन्त गुणे जीव अपने कर्मबन्धसे पराजित होते हुए जीवन-यापन कर रहे हैं। वे अपने शारीरिक और मानसिक दुखोको पार नही कर पाये ॥२६८॥

तात्पर्य यह है कि जीव सासारिक बातोमे अनुरक्त होकर कर्मबन्ध करता है और उनसे विरक्त होकर कर्मबन्धसे मुक्त होता है यही जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है। इसलिए हे जीव, कर्मोमे अनुरक्त न हो ॥२६९॥

गुणस्थान

दर्शन मोहनीयादि कर्मोका उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओंसे उत्पन्न जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोको सर्वज्ञदेवने उसी गुणस्थानवाला और परिणामोको गुणस्थान कहा है ॥२७०॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीण-मोह, सयोगकेवलिजिन और अयोगकेवली ये क्रमश चौदह जीवसमास गुणस्थान है। और सिद्ध इन जीव समासोसे पृथक् है ॥२७१–२७२॥

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—एकान्त, विपरीत, विनय, सशय और अज्ञान। विशेपार्थ—अनेक धर्मात्मक पदार्थको किसी एक धर्मात्मक मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है अथवा नित्य ही है आदि। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको उलटा समझ वैठना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे रज्जुको सर्प, पशु-हिंसाको धर्म आदि। वाह्य औपचारिक आचारको ही सच्चा धर्म समझ लेना वैनयिक मिथ्यात्व है जैसे सब देवोको शास्त्रोको प्रणाम कर लेना, स्नान, वस्त्र, भोजन आदिकी शुद्धि मात्रको पूर्ण धर्म मान लेना आदि। यह ठीक है या वह ऐसी सशयात्मक वृत्तिको वनाये रखना सशय मिथ्यात्व है। एव तत्त्वोके वास्तविक स्वरूप-को समझनेका प्रयत्न ही नही करना अज्ञान मिथ्यात्व है। ये पाँचो वृत्तियाँ धार्मिक श्रद्धान व ज्ञानकी विरोधी है ॥२७३॥

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्या परिणामोका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला हो जाता है। उसको जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मीठा रस भी अच्छा नही लगता उसी प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा प्रतीत नही होता ॥२७४॥

मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओके पूर्वापर विरोधादि दोपोसे रहित और हितके करनेवाले भी वचन यथार्थ श्रद्धान नही करता। किन्तु आचार्याभासोके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका इच्छानुसार श्रद्धान करता है ॥२७५॥

सम्यक्त्व रूपी रत्न पर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख हो चुका है अतएव जिसने सम्यक्त्वका नाश तो कर डाला है किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नही किया है उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते है। जिसका प्रतिपक्षी आत्माके गुणको सर्वथा घातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोसे विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं ॥२७६-२७७॥

जिस प्रकार दही और गुडको परस्पर इस तरहसे मिलाने पर कि फिर उन दोनोको पृथक् नही कर सके उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप अर्थात् खट्टा और मीठा मिला हुआ होता है उसी प्रकार मिश्र परिणामोमे भी एक ही कालमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल सयम या देशसंयमको ग्रहण नही करता और न इस गुणस्थानमे आयुकर्मका वन्ध ही होता है। तथा इस गुणस्थानवाला जीव यदि मरण करता है तो नियमसे सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोको प्राप्त करके ही मरण करता है किन्तु इस गुणस्थानमे मरण नही होता ॥२७८-२७९॥

सम्यग्दर्शन गुणका आंशिक रूपसे हनन करनेवाली सम्यक्त्व प्रकृति-का उदय होनेपर जो आत्माके परिणाम होते है उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है। वे परिणाम चल मलिन या आगाढ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट छियासठ सागर पर्यन्त कर्मोकी निर्जराके कारण है। विशेपार्थ—आत्माके सदृष्टि सद्ज्ञानादि गुणोका अवरोध करनेवाले कर्म दो प्रकारके होते है—एक वे जो इन गुणोके विकासको पूर्ण रूपसे रोक देते है अतः जिन्हे सर्वघाती कहते है। और दूसरे वे जो आत्मगुणोके विकासको पूर्णत नही किन्तु आंशिक रूपसे रोकते है और इसलिए उन्हे देशघाती कहते है। मोहनीय कर्मके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो मुख्य भेद हैं। दर्शन मोहनीयके पुन. तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा चारित्र मोहनीयके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायरूप प्रमुख भेद है तथा ये चारो ही तीव्र मन्दके तर-तम भावमे अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन इन चार कोटियोमे विभाजित है। इन कर्मोकी उदय, उपशम, क्षय आदि अनेक अवस्थाएँ होती है। जब क्रोधादि चारो कषायोंके अनन्तानुवन्धी अंशोका व मिथ्यात्वके प्रथम दोनो भेदोके उदयमे आये निषेकोका क्षय हो जाये तथा आगे उदित होनेवालोका उपशम हो जाय किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मकी तीसरी प्रकृति सम्यक्त्वका उदय बना रहे तब आत्माकी जिस सम्यग्दृष्टिरूप अवस्थाका विकास होता है उसे वेदक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है जो स्थिर और विशुद्ध नही किन्तु चलायमान और मलिन होता हुआ भी अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छ्यासठ सागर काल तक टिक सकना और निरन्तर कर्मोकी निर्जरामे सहायक हो सकता है ॥२८०॥

तीन दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनन्तानुवन्धी कषाय इन सात प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक और सर्वथा क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शनके साथ सयमका सर्वथा अभाव होता है क्योकि यहाँ दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है। अतएव इस गुणस्थानवर्ती जीवको असयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं ॥२८१॥

सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है किन्तु अज्ञानतावश गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है ॥२८२॥

जो इन्द्रियोंके विषयसे तथा त्रस, स्थावर जीवोकी हिंसासे विरक्त नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है ॥२८३॥

जो जीव जिनेन्द्रदेवमे श्रद्धाको रखता हुआ भी त्रसकी हिंसासे विरत किन्तु स्थावरकी हिंसासे अविरत होता है उस जीवको विरताविरत कहते हैं ॥२८४॥

सकल सयमको रोकनेवाले प्रत्याख्यानावरण कपायका उपशम होनेसे पूर्ण सयम तो हो चुका है किन्तु उस सयमके साथ सज्वलन और नोकपायके उदयसे सयमके मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है। अतएव इस छठे गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं। विशेपार्थ—अनन्तानुवन्धी कपाय सम्यक्त्व और चारित्रका पूर्ण रूपसे निरोधकारी है। अप्रत्याख्यान सम्यक्त्वके विकासको नही रोकता तथा चारित्रको भी आशिक रूपसे विकसित होने देता है। प्रत्याख्यानावरण पूर्ण सयमके विकासमे वाधक होता हुआ साधकको प्रमादी वनाये रखता है। इसीलिए इस छठे गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं ॥२८५-२८६॥

जिस सयमी के उपर्युक्त पन्द्रह प्रमाद नष्ट हो चुके है। और जो समग्र ही व्रतो, गुणो तथा शीलसे युक्त है और शरीर एव आत्माके भेदज्ञानमे तथा मोक्षके कारणभूत ध्यानमे निरन्तर लीन रहता है ऐसा अप्रमत्त जव तक उपशमक या क्षपक श्रेणीका आरोहण नही करता तव तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते है। विशेपार्थ—व्रत पाँच है—अहिसा, अचौर्य, अमृपा, अमैथुन और अपरिग्रह। इनका मुनि महाव्रतके रूपमे पालन करता है। सयमीके गुण अट्ठाईस कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं—उपर्युक्त पाँच महाव्रत ईर्या, भाषा, एपणा, आदान निक्षेप और प्रस्थापन ये पाँच समितियाँ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श इनके वशीकरण रूप पाँच निग्रह, सामायिक, स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग ये छह आवश्यक तथा केशलौच, नग्नत्व, अस्नान, भूमि-शयन, अदन्तधावन, स्थिति-भोजन तथा एकभक्त ये सात विशेप साधनाएँ। इन अट्ठाईस गुणोको मुनिके मूल गुण कहा जाता है। यो तो सभी व्रतो की रक्षा करनेवाले गुणोका नाम शील है तथा सयमीकी साधनाओमे ब्रह्मचर्यकी विशेषता होनेसे इस व्रतके परिपालनार्थ बडी सूक्ष्मतासे शीलके अठारह सहस्र भेद वतलाये गये है जिसके लिए देखिए मूलाचार ॥२८७॥

जिसका अन्तर्मुहूर्त मात्र काल है ऐसे अधःप्रवृत्तिकरणको विताकर वह सातिशय अप्रमत्त जव प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये अपूर्व-करण जातिके परिणामोको करता है तव उसको अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती कहते है। विशेपार्थ—यहाँसे लेकर ऊपरके समस्त गुणस्थान आध्यात्मिक उत्कर्पकी विशिष्ट भूमिकाएँ है। अध प्रवृत्तिकरण आत्माका वह ध्यानात्मक उद्योग है जिससे प्रत्येक क्षण उसमे अनन्तगुणी विशुद्धि उत्पन्न होती है। अशुभ कर्मोकी हानि और शुभ कर्मोकी वृद्धि तथा कर्मोके स्थितिकालमे उत्तरोत्तर क्षीणता होती जाती है ॥२८८॥

इस गुणस्थानमे भिन्न समयवर्ती जीव जो पूर्व समयमे कभी भी प्राप्त नही हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोको ही धारण करते है इसलिए इस गुण-स्थानका नाम अपूर्वकरण है। विशेपार्थ—अध प्रवृत्तिकरणमे उत्पन्न आध्यात्मिक विशुद्धिके फलस्वरूप अव आत्मामे उत्तरोत्तर प्रति समय ऐसे विशुद्ध भाव जाग्रत् होते है जैसे पहले उनमे कभी नही हुए थे और इसीलिए इस गुणस्थानका सार्थक नाम अपूर्वकरण है ॥२८९॥

अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरणके कालमे-से या मध्य या अन्तके एक समयवर्ती अनेक जीवोमे जिस प्रकार शरीरकी अवगाहना आदि वाध्य कारणोंसे तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशम आदि अन्तरग कारणोंसे परस्परमे भेद पाया जाता है इस प्रकार जिन परिणामोके निमित्तसे परस्परमे भेद नही पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं ॥२९०॥

इसलिए उसके कालके प्रत्येक समयमे अनिवृत्तिकरणका एक-एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मलरूप अग्निकी शिखाओ-की सहायतासे कर्मवनको भस्म कर देते हैं। विशेपार्थ—यहाँ आत्मध्यान-का ऐसा उत्कर्प पाया जाता है कि प्रत्येक समयकी विशुद्धि अपूर्व होनेके साथ ही एकरूप ही होती है उसमे विकल्पोका अभाव है ॥२९१॥

जिस प्रकार धुले हुए कुसुमी वस्त्रोमे लालिमा सुर्खी सूक्ष्म रह जाती है उसी प्रकार जो अत्यन्त सूक्ष्म राग लोभसे युक्त हैं उनको सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं। विशेपार्थ—उपर्युक्त तीन करणोंके फलस्वरूप आत्म-विशुद्धि यहां तक पहुंच जाती है कि इस गुणस्थानमे अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषायके सिवाय अन्य कोई भी घाती कर्मका अंश नही रहता ॥२९२॥

जो अठारह सहस्र शीलके भेदोंका स्वामी हो चुका है, जिसके कर्मोके आनेका द्वाररूप आस्रव सर्वथा वन्द हो गया है तथा सत्य और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होनेसे जो उस कर्मकी रजसे सर्वथा मुक्त हो चुका है उस काययोग रहित केवलीको चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते है ॥२९८॥

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मो से रहित हैं, अनन्त सुखरूपी अमृतके अनुभव करनेवाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मवन्धको कारणभूत मिथ्या-दर्शनादि भावकर्मरूप अजनसे रहित हैं, नित्य हैं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्यावाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरु-लघु ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य जिनको कोई कार्य करना शेष नहीं रहा है तथा जो लोकके अग्रभागमे निवास करनेवाले है उनको सिद्ध कहते है ॥२९९॥

स्याद्वाद

जो जीवादिक द्रव्यसमूह नाना प्रकारके भावोंसे सयुक्त कहे गये हैं उनके स्पष्टीकरणके हेतु प्रमाण और नयके लक्षण भी वतलाये गये हैं ॥३००॥

द्रव्योंके समस्त स्वभावोमे सवसे अधिक व्यापक स्वभाव अस्तित्व है क्योकि सभी द्रव्योमे अस्ति अर्थात् भावनात्मक सत्ता पायी जाती है और अस्तित्व गुण समस्त भावात्मक पदार्थो मे विद्यमान है ॥३०१॥

इस प्रकार जो द्रव्य सत्तारूप है वह प्रमाणका विषय है अर्थात् उसकी पूरी जानकारी प्रमाण द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रमाण ज्ञानका एक अश नय कहलाता है और नय की यह आंशिक ज्ञानात्मकता शब्दोंमे स्यात् वचनके द्वारा प्रकट की जाती है ॥३०२॥

किसी भी द्रव्यका ज्ञान सामान्य व विशेष रूप होता है और उन दो प्रकारके ज्ञानोंमे कोई विरोध नही है। पदार्थो की यह द्विरूपकता और उनमें अवरोधकी सिद्धि सम्यक्त्व अर्थात् शुद्ध दृष्टि द्वारा ही हो सकती है। सम्यक्त्वसे विपरीत मिथ्यादृष्टि द्वारा यह सिद्धि नही हो सकती ॥३०३॥

यह सम्यग्दृष्टि अपेक्षा वाचक स्यात् शब्दोके द्वारा प्रकट होती है। जहाँ इसका प्रयोग नही किया जाता वहाँ अपेक्षा रहित एकान्तरूप वचन होनेसे मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है। अतएव सामान्य और विशेष इन दोनोका विषय स्यात् शब्दके प्रयोग द्वारा समझना चाहिए। अर्थात् जब किसी वस्तुके विषयमे कोई विशेष बात कही जाये तब स्यात्के द्वारा यह भी प्रकट कर देना उचित है कि उस वस्तुका वह स्वरूप एक अपेक्षा विशेष से है तथा उस वस्तुमे अन्य सामान्य गुण भी है ॥३०५॥

वस्तुके गुणधर्म चाहे नय विषयक हो और चाहे प्रमाण विषयक किन्तु वे होते परस्पर सापेक्ष ही है। अतएव सापेक्षत्व ही तत्त्व है और निरपेक्षता उसके विपरीत अर्थात् अतत्त्व है ॥३०६॥

यह जो स्यात् शब्द है वह निपातनसे अर्थात् बिना किसी प्रकृति-प्रत्यय विवेकके रूढिसे ही वस्तुके विधि और निषेधात्मक स्वरूपको प्रकट करनेवाला माना गया है। अतएव यह शब्द वाक्यार्थमे सापेक्षताकी सिद्धि करता है ॥३०७॥

प्रमाण नय व दुर्नय युक्त वस्तुके स्वरूपको प्रकट करनेवाले सात ही भग अर्थात् वचनोकी शैलियाँ होती है। उनमे स्यात् शब्दके प्रयोगसे परस्पर सापेक्षता स्थापित हो जाती है और वे वचन प्रमाणरूप हो जाते है। उनके एक-एक वचन भग नयसे अर्थात् वस्तुके किसी एक अश-विशेषको सापेक्ष रूपसे प्रकट करनेके कारण वे सब वाक्य नयरूप है। किन्तु जब उनमे स्यात् शब्दका अभाव होनेसे सापेक्षकता नही रहती और वे एकान्तवादी हो जाते है तब वे दुर्नयरूप है ॥३०८॥

वे सात प्रमाण-भगियाँ इस प्रकारसे जानना चाहिए—१ स्याद् अस्ति, २ स्याद् नास्ति, ३. स्याद् अस्ति-नास्ति, ४ स्याद् अवक्तव्य, ५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य, ६. स्याद् नास्ति अवक्तव्य, ७ स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ॥३०९॥

सत् द्रव्यका लक्षण है। अतएव प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ताकी अपेक्षासे अस्ति स्वभाव है ॥३१०॥

मिच्छा सराग-भूओ हेयो आदा हवेइ णियमेण ।
तव्विवरीओ झेओ णायव्वो सिद्धि-कामेण ॥३१७॥

जो सिय-भेदुवयारं धम्माणं कुणइ एग-वत्थुस्स ।
सो ववहारो भणिओ विवरीओ णिच्छयो होदि ॥३१८॥

एक्को वि झेय-रूवो इयरो ववहारदो य तह भणिदो ।
णिच्छय-णयेण सिद्धो सम्मग-तिदयेण णिय अप्पा ॥३१९॥

तिण्णि णया भूदत्था इयरा ववहारदो य तह भणिया ।
दो चेव सुद्ध-रूवा एक्को गाही परम-भावेण ॥३२०॥

जं जस्स भणिय भावं तं तस्स पहाणदो य तं दव्वं ।
तम्हा झेयं भणिय जं विसय परम-गाहिस्स ॥३२१॥

तच्चाणेसण-काले समयं बुज्झेहि जुत्ति-मग्गेण ।
णो आराहण-समये पच्चक्खो अणुहवो हवे जम्हा ॥३२२॥

एयंते णिरवेक्खे णो सिज्झइ विविह-भावगं दव्वं ।
तं तह व अणेयंता इदि बुज्झह सिय अणेयंतं ॥३२३॥

पाऊण णाण-सलिलं णिम्मल-सुविसुद्ध-भाव-संजुत्ता ।
होंति सिवालय-वासी तिहुवण-चूडामणी सिद्धा ॥३२४॥

णय-वाद-णाणं

वीरं विसय-विरत्तं विगय-मलं विमल-णाण-संजुत्तं ।
पणविवि वीर-जिणिंदं पच्छा णय-लक्खणं वोच्छं ॥३२५॥

ण वि किं चि अणुण्णायं पडिसिद्धं वा वि जिण-वरिंदेहिं ।
एसा तेसिं आणा कज्जे सच्चेण होदव्वं ॥३२६॥

जं णाणीण वियप्पं सुय-भेयं वत्थुयंस-संगहणं ।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहिं णाणेहिं ॥३२७॥

परिसुद्धो णय-वाओ आगम-मेत्तत्थ-साहओ होइ ।
सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विवम्मेइ ॥३२८॥

जम्हा ण णएण विणा होइ णरस्स सियवाय-पडिवत्ती ।
तम्हा सो बोद्धव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥३२९॥

धम्म-विहीणो सोक्खं तण्हा-छेयं जलेण जह रहिदो ।
तह इह वंछइ मूढो णय-रहिओ दव्व-णिच्छित्ती ॥३३०॥

दो चेव मूलिम-णया भणिया दव्वत्थ-पज्जयत्थ-गाया ।
अण्णं असंख-संखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥३३१॥

जावइया वयण वहा तावइया चेव होंति णय-वाया ।
जावइया णय-वाया तावइया चेव पर-समया ॥३३२॥

ज्ञान रूपी जलका पान करके निर्मल व विशुद्ध भावोसे युक्त हुए जीव शिवालयमे निवास करनेवाले त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध हो जाते है ॥३२४॥

नय-वाद

इन्द्रिय विषयोसे विरक्त समस्त कर्म-मलसे विमुक्त तथा विशुद्ध केवलज्ञानसे सयुक्त वीर जिनेन्द्रको प्रणाम करके पश्चात् नयोका लक्षण कहता हूँ ॥३२५॥

जिनेन्द्रोने न तो किसी बातकी अनुज्ञा दी और न प्रतिषेध किया। उन्होने तो सभी बातोके गुण-दोष बतलाते हुए यह आदेश दिया है कि प्रत्येक कार्यमे सत्यता व सद्भाव अर्थात् भलाई होना चाहिए ॥३२६॥

वस्तुके किसी एक अशका बोध करानेवाला जो श्रुतभेद ज्ञानियो द्वारा विकल्प रूपमे ग्रहण किया जाता है वह यहाँ नय कहा गया है। इन्ही नयोरूप ज्ञान-प्रणालियो द्वारा मनुष्य ज्ञानी बनता है ॥३२७॥

नयानुसार कथित वचन परिशुद्ध होता है और उसीके द्वारा समस्त आगमोके अर्थकी सिद्धि होती है। किन्तु नयहीन वाक्य दोनो पक्षो अर्थात् वक्ता और श्रोताकी अथवा लौकिक और आगमिक समझदारीमे दूषण उत्पन्न करता है ॥३२८॥

चूंकि नय-ज्ञानके बिना मनुष्यको स्याद्वादके स्वरूपका बोध नही होता इसलिए जो कोई एकान्त रूप मिथ्याज्ञानका विनाश करना चाहता है उसे नयोका स्वरूप अवश्य जानना चाहिए ॥३२९॥

णेगम संगह ववहार तह य रिउसुत्त सद्द अभिरूढा ।
एवंभूओ णव-विह णया वि तह उवणया तिण्णि ॥३३३॥

णिव्वित्त-दव्व-किरिया वट्टण-काले दु जं समाचरणं ।
तं भूय-णइगम-णयं जह अज णिव्वुइदिणं वीरे ॥३३४॥

पारद्धा जा किरिया पयण-विहाणादि कहइ जो सिद्धा ।
लोए य पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाण-णयं ॥३३५॥

णिप्पण्णमिव पयंपदि भावि-पयत्थं णरो अणिप्पण्णं ।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भावि-णइगमो त्ति णओ ॥३३६॥

अवरे परम-विरोहे सव्वं अत्थि त्ति सुद्ध-संगहणो ।
होइ तमेव असुद्धो इग-जाइ-विसेस-गहणेण ॥३३७॥

जं संगहेण गहिय भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा ।
सो ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ-भेय-करो ॥३३८॥

जो एय-समय-वट्टी गेण्हइ दव्वे धुव्वत्त-पज्जाओ ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो सव्वं पि सद्द जहा खणियं ॥३३९॥

मणुवाइय-पज्जाओ मणुसो त्ति सग-ट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ ताव-कालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥३४०॥

जो वट्टणं च मण्णइ एयट्ठे भिण्ण-लिंगमाईणं ।
सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुस्साइयाण जहा ॥३४१॥

अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किंपि अत्थ-ववहरणं ।
तं खलु सद्दे विसयं देवो सद्देण जह देवो ॥३४२॥

सद्दारूढो अत्थो अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।
भणइ इह समभिरूढो जह इंद-पुरंदरो सक्के ॥३४३॥

जं जं करेइ कम्मं देही मण-वयण-कायचेट्ठाहिं ।
तं तं खु णाम-जुत्तो एवंभूओ हवे स णओ ॥३४४॥

पढम-तिया दव्वत्थी पज्जय-गाही य इयर जे भणिया ।
ते चदु अत्थ-पहाणा सद्द-पहाणा हु तिण्णियरा ॥३४५॥

गुण-गुणि-पज्जय-दव्वे कारय-सब्भावदो य दव्वेसु ।
सण्णाईहि य भेयं कुणेइ सब्भूय-सुद्धियरो ॥३४६॥

अण्णेसिं अत्त-गुणा भणइ असब्भूय तिविह-भेदे वि ।
सज्जाइ-इयर-मिस्सो णायव्वो तिविह-भेद-जुदो ॥३४७॥

दट्ठुणं पडिबिंबं भवदि हु तं चेव एस पज्जाओ ।
सज्जाइ-असब्भूओ उवयरिओ णियय-जाइ-पज्जाओ ॥३४८॥

अथवा व्याकरणसे सिद्ध हुए शब्दमे जो अर्थका व्यवहार किया जाता है उसी अर्थको उस शब्द द्वारा विषय करना जैसे देव शब्दके द्वारा उसका सुगृहीत अर्थ देव अर्थात् सुर ही ग्रहण करना यह शब्द नय है ॥३४२॥

जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वाचक शब्दमे आरूढ है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द भी अपने-अपने अर्थमे आरूढ है अर्थात् शब्दभेदके साथ अर्थभेद भी होता ही है जैसे इन्द्र-पुरन्दर यद्यपि एक ही देवोके राजाके वाचक हैं तथापि इन्द्र शब्द उसके ऐश्वर्यका बोध कराता है, पुरन्दरसे प्रकट होता है कि उसने अपने शत्रुके पुरोका नाश किया था तथा शक्र शब्द सूचित करता है कि वह बडा सामर्थ्यवान् है। इस प्रकार शब्द भेदानुसार अर्थ-भेद करनेवाला समभिरूढ नय है ॥३४३॥

जीव अपने मन, वचन व कायकी क्रिया द्वारा जो-जो काम करता है उस प्रत्येक कर्मका बोधक अलग-अलग शब्द है और उसीका उस समय प्रयोग करनेवाला एवभूत नय है। जैसे मनुष्यको पूजा करते समय ही पुजारी व युद्ध करते समय ही योद्धा कहना ॥३४४॥

इन नैगम आदि नयोमे जो प्रथम तीन द्रव्यार्थिक और शेष चार पर्यायार्थिक कहे गये हैं उनमे प्रथम चार अर्थात् नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थप्रधान है और शेष तीन शब्द समभिरूढ और एवभूत शब्दप्रधान हैं ॥३४५॥

उपनयके तीन भेद हैं—सद्भूत, असद्भूत और उपचरित। गुण-गुणी, पर्याय व द्रव्य तथा कारक व स्वभावके भेदसे वस्तुमे नामादिके द्वारा भेद करनेवाला सद्भूत उपनय है। इसके भी दो भेद है—शुद्ध गुण-गुणी आदिको विषय करनेवाला शुद्ध सद्भूत उपनय है और अशुद्ध गुण गुणी आदिको विषय करनेवाला अशुद्ध सद्भूत उपनय है ॥३४६॥

परपदार्थोके गुणोको आत्मगुण कहनेवाला असद्भूत उपनय है। इसके तीन भेद हैं—स्वजाति, विजाति और मिश्र। इन तीनोमे भी प्रत्येकके पुन तीन भेद होते है ॥३४७॥

जब किसी वस्तुके प्रतिबिम्बको देखकर कहा जाता है ,कि वह वही वस्तु है तो यह द्रव्य और पर्यायमे अभेद करनेवाला स्वजाति असद्भूत उपनय है ॥३४८॥

जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि शरीर पुद्गल कायसे सम्बन्ध रखते हैं उन्हे जीवका स्वरूप कहना कि यह एकेन्द्रिय जीव है इत्यादि यह विजाति असद्भूत उपनय है ॥३४९॥

जोव भी ज्ञेय है और अजीव भी ज्ञेय है अतएव वे दोनो ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञानरूप ही हैं। इस प्रकार ज्ञानको स्वजाति जीव तथा विजाति अजीवसे अभिन्न बतलानेवाला स्वजाति-विजाति या मिश्र असद्भूत उपनय है ॥३५०॥

जो परस्पर दो भिन्न सत्यासत्यरूप वस्तुओमे किसी प्रयोजन व निमित्त वश भेदकी स्थापना करता है वह उपचरित उपनय है। इसके स्वजाति-विजाति व मिश्र रूपसे भेद होते हैं ॥३५१॥

मेरे पुत्रादि, बन्धुवर्ग और मैं एक ही है, वे मेरी सम्पत्ति रूप है इत्यादि प्रकारसे स्वजातीय जीव पदार्थोंसे अभेद उत्पन्न करनेवाला स्वजाति असद्भूत उपचरित उपनय है ॥३५२॥

आभरण स्वर्ण रत्न तथा वस्त्रादि मेरे ही हैं इस प्रकार सचित्तका अचित्त विजातिके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाला विजाति असद्भूत उपचरित उपनय है ॥३५३॥

देश, राज्य व दुर्ग ये सब मेरे हैं इस प्रकार जो कहता है वह देशादिके जीव-अजीव उभयरूप होनेके कारण स्वजाति-विजाति अर्थात् मिश्र द्रव्योंसे अपना सम्बन्ध स्थापित करनेके कारण मिश्र असद्भूत उपचरित उपनयके अन्तर्गत है ॥३५४॥

द्रव्य नाना प्रकारके भावोको लिये हुए हैं अतएव उसके यथार्थ ज्ञानकी सिद्धि निरपेक्ष एकान्तके द्वारा कदापि नहीं हो सकती वह तो अनेकान्त रूप वचनके द्वारा ही हो सकती है। और वह अनेकान्त स्यात् शब्दके द्वारा साधा जाता है ऐसा जानिए ॥३५५॥

जिस उपायसे दोपोका निवारण हो और जिससे पूर्वोपार्जित कर्मोंका क्षय हो वही सच्चा मोक्षका उपाय है जिस प्रकार कि रोगकी अवस्थाओमे उनका उपशमन करना उचित है ॥३५६॥

जिस प्रकार रससिद्ध वैद्य सुवर्ण सिद्ध करके सुख भोगता है उसी प्रकार योगी नयोके स्वरूपको भले प्रकार समझकर और उनमे प्रवीण होकर चिरकाल आत्माका अनुभव करे ॥३५७॥

चारित्त-देसणा

चरण-विहिं पवक्खामि जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसार-सागरं ॥३५८॥

एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं ।
असजमे णियत्तिं च संजमे च पवत्तणं ॥३५९॥

राग-दोसे य दो पावे पाव कम्म-पवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभए णिच्चं से ण अच्छइ मंडले ॥३६०॥

वद-समिदि-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ ॥३६१॥

सावय-चारित्त

१. दंसण-पडिमा

सायारो अणयारो भवियाणं जेण देसिओ धम्मे ।
णमिऊण तं जिणिंदं सायव-धम्मं परूवेमो ॥३६२॥

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभुत्ती य ।
बभारंभ-परिग्गह-अणुमदमुद्दिट्ठ देस-विरदम्हि ॥३६३॥

एयारस ठाणाइं सम्मत्त-विवज्जियस्स जीवस्स ।
जम्हा ण सति तम्हा सम्मत्त सुणहु वोच्छामि ॥३६४॥

अत्तागम-तच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होदि ।
संकाइ-दोस-रहियं तं सम्मत्त मुणेयव्वं ॥३६५॥

णिस्संका णिक्कखा विदिगिंछा अमूढ-दिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥३६६॥

सवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा-य उपसमो भत्ती ।
वच्छल्ल अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥३६७॥

चारित्र देशना

भगवान् बोले—जीवात्माको केवल सुख देनेवाली और जिसका आचरण करके अनेक जीव इस भवसागरको पार करनेमे समर्थ हुए है ऐसी चारित्र विधिका उपदेश करता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥३५८॥

मुमुक्षुको चाहिए कि वह एक ओरसे निवृत्त हो और दूसरी ओर प्रवृत्त हो अर्थात् असयम और प्रमत्त योगसे निवृत्त हो तथा सयम एव अप्रमत्त योगमे प्रवृत्त हो ॥३५९॥

राग और द्वेष ये ही दो पाप हैं जो जीवको पाप-कर्मकी ओर ढकेलते है। जो भिक्षु इन दोनो अर्थात् राग और द्वेषका सदैव निरोध करता है वह इस ससार-चक्रसे मुक्त हो जाता है ॥३६०॥

अहिंसादि व्रतोको धारण करना, ईर्यादि समितियोका पालन करना, क्रोधादि कषायोका निग्रह, मन-वचन-कायकी कुत्सित क्रिया रूप दण्डोका त्याग तथा स्पर्शादि पाँचो इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करना यही तो सयम कहा गया है ॥३६१॥

गृहस्थ-धर्म

जिन्होने भव्य-जनोको सागार और अनगारका उपदेश दिया है उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार करके हम श्रावक धर्मका प्ररूपण करते हैं ॥३६२॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त-त्याग, रात्रि-भोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्ट-आहार-त्याग ये देशविरत श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ अर्थात् दर्जे है। जिसको सम्यक्त्व नही है उसके ये ग्यारह प्रतिमा नही होती। इस कारण मै सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ तुम सुनो ॥३६३–३६४॥

आप्त आगम और तत्त्वोमे शका आदिक दोषरहित निर्मल श्रद्धान होनेको सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥३६५॥

निःशका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्वके आठ अग हैं ॥३६६॥

सवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण होते हैं ॥३६७॥

पदार्थोमे श्रद्धान रखनेवाला जो कोई उपर्युक्त आठ गुणोंसे सयुक्त और दृढचित्त होकर सम्यक्त्वको अगीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है ॥३६८॥

पाँच उदुम्बरो और सात व्यसनोका जो कोई सम्यग्दृष्टि त्याग करता है उसको दर्शन श्रावक कहते हैं। अर्थात् वह पहली प्रतिमाका धारी होता है ॥३६९॥

गूलर, बड, पीपर, पिलखन और अजीर ये पाँच फल तथा सघाणा, अचार और वृक्षोके फूल इन सबमे त्रस जीवोकी निरन्तर उत्पत्ति होती है। इसलिए ये सब त्यागने योग्य हैं ॥३७०॥

जुआ, शराब, मास, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात व्यसन दुर्गतिमे ले जानेवाले पाप हैं ॥३७१॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतोको जो कोई पालता है वह दूसरी प्रतिमाका धारी है ॥३७२॥

जीवहिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मका स्थूलरूप त्याग और इच्छानुसार परिग्रहका परिमाण करना ये पॉच अणुव्रत हैं ॥३७३॥

पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशामे योजनका प्रमाण करके उससे बाहर जानेका त्याग करना प्रथम गुणव्रत अर्थात् दिग्व्रत है ॥३७४॥

जिस देशमे व्रतके भग होनेका कारण होता है उस देशमे जानेका नियमसे त्याग करना दूसरा गुणव्रत अर्थात् देशव्रत है ॥३७५॥

लोहेका टुकडा, तलवार आदिक, लाठी, फाँस अर्थात् मेख आदिक इनको न बेचना और झूठी तराजू, झूठे बाट तथा क्रूर जानवरोको न रखना तीसरा गुणव्रत अर्थात् अनर्थ दण्ड त्याग व्रत है ॥३७६॥

शरीरको शोभा देनेवाले पदार्थ, ताम्बूल, सुगन्ध और पुष्प आदिका परिमाण करना भोगविरति नामक पहला शिक्षाव्रत है ॥३७७॥

अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री, वस्त्र, आभरण आदिका परिमाण करना उपभोग निवृत्ति नामक दूसरा शिक्षाव्रत है ॥३७८॥

अतिहिस्स संविभागो तिदियं सिक्खावयं मुणेयव्वं ।
स-गिहे जिणालये वा तिविहाहारस्स वोसरणं ॥३७९॥

जं कुणइ गुरु-पासम्मि य सम्ममालोइऊण तिविहेण ।
सल्लेखणं चउत्थ सुत्ते सिक्खावयं भणियं ॥३८०॥

३. सामाइय-पडिमा

होऊण सुई चेइय-गिहम्मि स-गिहे वा चेइयाहिमुहो ।
अण्णत्थ सुइ-पएसे पुव्व-मुहो उत्तर-मुहो वा ॥३८१॥

काउस्सग्गम्मि ठिओ लाहालाहं च सत्तु-मित्त च ।
जो पस्सइ सम-भावं मणम्मि धरिऊण पंच णवकारं ॥३८२॥

सिद्ध-सरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं ।
खणमेवाविचलांगो उत्तम-सामाइयं तस्स ॥३८३॥

४. पोसह-पडिमा

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसण-विहाणमुद्दिट्ठं ।
सग-सत्ति एय-मासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ॥३८४॥

जह-उक्कस तहा मज्झमवि पोसह-विहाणमुद्दिट्ठं ।
णवर विसेसो सलिलं छडित्ता वज्जए सेसं ॥३८५॥

मुणिऊण गुरुव कज्जं सावज्जं वज्जिऊण णिरारंभं ।
ज कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसह-विहाणं ॥३८६॥

५. सचित्त-चाग-पडिमा

जं वज्जिज्जं हरियं तुय पत्त-पवाल-कंद-फल-वीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्त-विणिवित्ति तं ठाणं ॥३८७॥

६. राइ-भुत्ति-चाग-पडिमा

मण-वयण-काय-कय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा ।
दिवसम्हि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥३८८॥

आये हुए अतिथियोको यथोचित रूपसे आहारादि दान देना अतिथि सविभाग नामक तीसरा शिक्षाव्रत है। अपने ही घरमे या जिनमन्दिरमे रहकर और तीन प्रकारका आहार त्याग कर जो गुरुके पास भले प्रकार मन-वचन-कायसे आलोचना करता है वह सल्लेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है ॥३७९–३८०॥

शुद्ध होकर अर्थात् स्नान आदिक करके अपने घरमे या चैत्यके सम्मुख स्थानमे पूर्व दिशाकी ओर या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके कायोत्सर्ग मुद्रासे खडे होकर जो कोई लाभ-हानि व शत्रु-मित्रको समता भावसे देखता है तथा मनमे पच नमोकार मन्त्रका जाप करता हुआ सिद्धोके स्वरूपका ध्यान करता है अथवा सवेग वैराग्य भाव सहित धर्मध्यान या शुक्लध्यान करता है और इस अवस्थामे निश्चलाग होकर क्षणमात्र भी रहता है वह उत्तम सामायिक व्रतका धारक है ॥३८१–३८३॥

उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकारका प्रोषध उपवास कहा गया है। एक महीनेके चारो पर्वमे अर्थात् दोनो पक्षकी अष्टमी, चतुर्दशीको अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना चाहिए यह उत्तम प्रोषधोपवास है। उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी जो विधि है वही मध्यम प्रोषधोपवासकी समझनी चाहिए। केवल भेद इतना है कि मध्यम उपवासमे पानीके सिवाय शेष सब वस्तुका त्याग होता है ॥३८४–३८५॥

बडे आवश्यक कार्यको जानकर पापका निवारण करता हुआ अनारम्भ भावसे जो अपना कार्य भी करता है और उपवास भी धारण करता है वह जघन्य प्रोषधोपवास है ॥३८६॥

पत्र, अकुर, कन्द, फल, बीज आदिक रहित पदार्थ और अप्रासुक पानीका त्याग करना सचित्त प्रतिमा है ॥३८७॥

मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना अर्थात् नौ प्रकारसे दिनके समय मैथुनका जो त्याग करता है वह छठी प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥३८८॥

एयादसेसु पढमं वि जदो णिसि-भोयणं कुणंतस्स ।
अणं ण ठाइ तम्हा णिसि-भुत्तं परिहरे णियमा ॥३८९॥

चम्मट्ठि-कीड-उंदुरु-भुयंग-केसाइँ असण-मज्झम्मि ।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसि-समये ॥३९०॥

एवं बहुप्पयारं दोसं णिसि-भोयणम्मि णाऊण ।
तिविहेण राइ-भुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ॥३९१॥

७. बंभचेर-पडिमा

पुव्वुत्त णव-विहाणं पि मेहुण सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थि-कहाइ-णिवित्तो सत्तम-गुण-बंभयारी सो ॥३९२॥

८. आरभ-चाग-पडिमा

जं किं चि गिहारभं बहु योगं वा समा विवज्जेइ ।
आरंभ-णियट्टि-मई सो अट्ठम-सावओ भणिओ ॥३९३॥

९. परिग्गह-चाग-पडिमा

मोत्तूण वत्थ-मत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेस ।
तत्थ वि मुच्छ ण करइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥३९४॥

१०. अणुमइ-चाग-पडिमा

पुट्ठो वि य णियएहिं य परेहिं लोएहिं स-गिह-कज्जमि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥३९५॥

११. उद्दिट्ठ-चाग-पडिमा

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवइ दुविहो ।
वत्थेक्क-धरो पढमो कोवीण-परिग्गहो विदिओ ॥३९६॥

यदि कोई रात्रिभोजन करता है तो वह ग्यारह प्रतिमामे-से पहली प्रतिमाका भी श्रावक नही रहता इस कारण रात्रि-भोजनका नियमसे त्याग करना चाहिए ॥३८९॥

रात्रिके समय चमड़ा, हड्डी, कीडा, मूषक, साँप और बाल आदिक जो कुछ भी भोजनमे पड़ जाता है वह दिखाई नही देता और सब कुछ खा लिया जाता है ॥३९०॥

इस प्रकार रात्रिभोजनमे बहुत-से दोष जानकर मन-वचन-कायसे रात्रि भोजनका त्याग करना चाहिए ॥३९१॥

पूर्वोक्त नौ प्रकारसे सर्वथा मैथुनका त्याग और स्त्री-कथाका भी त्याग करनेवाला सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक होता है ॥३९२॥

जो कुछ भी थोडा या बहुत गृह-सम्बन्धी आरम्भ हो उसका सदैव परित्याग करनेवाला आठवी आरम्भ-त्याग प्रतिमाका धारक कहा गया है ॥३९३॥

वस्त्र मात्र परिग्रह रखकर जो शेष परिग्रहका त्याग करता है और जितना परिग्रह रखता है उसमे भी ममत्व नही करता है वह नवमी प्रतिमाका श्रावक है ॥३९४॥

अपने या पराये लोगो द्वारा गृहकार्यके सम्बन्धमे पूछे जानेपर भी जो अनुमोदना नही करता अर्थात् उस कार्यके करनेमे अपनी अनुमति नही देता वह दशवी प्रतिमाका श्रावक है ॥३९५॥

ग्यारहवी प्रतिमाका श्रावक उत्कृष्ट श्रावक होता है उसके दो भेद हैं—प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीनमात्र रखनेवाला ॥३९६॥

पहले दर्जेवाला अपने बाल उस्तरेसे बनवाता है या कैंचीसे कटवाता है और यत्नके साथ उपकरणसे स्थान आदिको साफ करता है। हाथमे या ब्रतनमे भोजन करता है और चार पर्वोमे नियमके साथ उपवास करता है ॥३९७–३९८॥

दूसरे दर्जेवालेके भी यही क्रिया है। भेद इतना है कि यह नियमसे केशलौच करता है पीछी रखता है और हाथमे भोजन करता है ॥३९९॥

मुनि चारित्र

संयमका आचरण दो प्रकारका कहा गया है एक सागार अर्थात् गृहस्थका और दूसरा निरागार अर्थात् गृह-त्यागी मुनि का ॥४००॥

साधु अर्थात् मुनि पाँच महाव्रतोका पालन करता है तथा गृहस्थ उन्ही पाँचोमे-से एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचो व्रतोका अणुरूपसे पालन करता हुआ अणुव्रती होता है। साधु सामायिक सयमका पालन करता है अर्थात् समस्त दूषित आचरणोका एक ही सा परित्याग करता है जबकि दूसरा अणुव्रती श्रावक द्वितीय छेदोपस्थान नामक सयमका पालन करता हुआ व्रतोका अहिंसा आदि पृथक्-पृथक् रूपोसे पालन करता है ॥४०१॥

साधु समस्त सामाचारी अर्थात् सम्यक् चारित्रका सदैव परिपालन करता है। किन्तु दूसरा अर्थात् गृहस्थ सयमके नियमोका पूर्णज्ञाता न होनेसे एक कालमे सभी व्रतोका साधुके समान पालन नही कर सकता ॥४०२॥

हिंसासे विरति अर्थात् त्यागका नाम अहिंसा व्रत है। उसी प्रकार असत्य त्याग दूसरा व अदत्तादान अर्थात् चोरीका त्याग तीसरा व्रत है। अब्रह्म अर्थात् व्यभिचारका त्याग चतुर्थ एव सग अर्थात् परिग्रहका त्याग पचम व्रत है ॥४०३॥

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजम-सोहि-णिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥४०४॥

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसाय-रिऊ ।
दोस-सहस्सावासा दुक्ख-सहस्साणि पावंति ॥४०५॥

मण-वयण-काय-गुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसव-दार-णिरोहे णव-कम्म-रयासवो ण हवे ॥४०६॥

असमणुण्णे य समणुण्णे सजीव-दव्वे अजीव-दव्वे य ।
ण करेइ राय-दोसे पंचिंदिय-संवुडो भणिओ ॥४०७॥

(अहिंसा-चारित्तं)

कुल-जोणि-जीव-मग्गण-ठाणाइँ सुजाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभ-णियत्तण-परिणामो होइ पढम-वदं ॥४०८॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाण ।
एवं णच्चा अप्पोवमिओ जीवेसु होहि सदा ॥४०९॥

तेलोक्क-जीविदादो वरेहि एक्कदरगं ति देवेहिं ।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥४१०॥

ईर्या अर्थात् सावधानी पूर्वक जीवोकी रक्षा करते हुए गमनागमन करना, भाषा अर्थात् हितकारी परिमित व मधुर भाषण करना, एषणा अर्थात् शुद्ध आहारके नियमोका पालन करते हुए भिक्षा ग्रहण करना, आदान अर्थात् पीछी, कमण्डल आदि उपकरणोको भले प्रकार देख व शोधकर ग्रहण करना और निक्षेपण अर्थात् शुद्ध जीव रहित भूमि देखकर मल-मूत्रका त्याग करना ये पाँच सयमका शोधन करनेवाली क्रियाओको जिनेन्द्र भगवान्ने पाँच समितियाँ कहा है ॥४०४॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कपाय रूपी शत्रु हैं जो साधकके हृदयको दूपित कर देते हैं। वे सहस्रो दोपोके निवास स्थान होते हुए साधकको सहस्रो दुखोमे डाल देते हैं ॥४०५॥

मन, वचन और काय इन तीनो करणो द्वारा जो साधक अपनी समस्त इन्द्रियोको वशमे रखता हुआ उक्त पाँचो समितियोके पालनमे प्रमाद नही करता उसके समस्त आस्रव-द्वार निरुद्ध हो जाते हैं जिससे उसके किसी भी नये कर्म रूपी रजका आस्रव नही होता ॥४०६॥

चाहे कोई वस्तु मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ चाहे सजीव हों अथवा अजीव उसमे जो साधक न राग करता और न द्वेष वह पचेन्द्रिय विजयी कहा जाता है ॥४०७॥

अहिंसा चारित्र

जीवोंके कुल अर्थात् जातियाँ, योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान, मार्गणा-स्थान अर्थात् गति, इन्द्रिय, काय, आदि द्वारा जीवोको पहिचाननेके स्थान इन सवको भले प्रकार समझ-वूझकर जीवोके आरम्भ अर्थात् घात व हिंसाके निवारण रूप परिणाम व भाव ही प्रथम अहिसा नामक व्रत है ॥४०८॥

जिनेन्द्र कहते है कि हे भव्य, जिस प्रकार तुझे दुख प्रिय नही है उसी प्रकार अन्य जीवोको भी वह प्रिय नही है ऐसा जानो। इस समझदारीके साथ अन्य जीवोके प्रति वैसा ही हित भावसे व्यवहार करो जिस प्रकार तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे प्रति करें ॥४०९॥

एक ओर त्रैलोक्यकी सम्पदा और दूसरी ओर जीवन इन दोमे-से किसी एकको चुनकर ले लो। ऐसा देवो द्वारा कहे जानेपर भी कौन ऐसा होगा जो जीवनको छोडकर त्रिलोकका वरण करेगा ॥४१०॥

इस प्रकार जब यह त्रैलोक्य सब जीवोके जीवनकी तुलना नही कर पाता तब किसी भी जीवका घात त्रिलोक मात्रके सहार सदृश होता है ॥४११॥

जिस प्रकार अणुसे छोटी कोई वस्तु नही और आकाशसे बडा कोई पदार्थ नही। उसी प्रकार समझ लो कि अहिंसाके समान ससारमे कोई महान् व्रत नही है ॥४१२॥

जिस प्रकार समस्त लोकमे समस्त पर्वतोसे ऊँचा मेरु पर्वत है उसी प्रकार समस्त शीलो और व्रतोमे अहिंसाको सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिए ॥४१३॥

जिस प्रकार आकाशमे यह लोक स्थित है तथा समस्त द्वीप-समूह इस पृथ्वीपर स्थित हैं उसी प्रकार सभी व्रत गुण व शील अहिंसापर ही आधारित हैं ॥४१४॥

अहिंसा ही समस्त आश्रमोका हृदय है, समस्त शास्त्रोका गर्भ अर्थात् उत्पत्ति स्थान है तथा सभी व्रतो और गुणोका पिण्ड रूप एकीकृत सारभूत है ॥४१५॥

सभी जीव सभी प्रकारसे सभी अन्य जीवोसे सम्बन्धित हैं। अतएव जो जीव दूसरोकी हिंसा करता है वह वस्तुत स्वय अपने सम्बन्धियोको ही मारता है ॥४१६॥

किसी अन्य जीवका वध स्वय अपना ही वध है तथा अन्य जीवोकी दया अपने पर ही दया है। अतएव हिंसाका विष व कण्टकके समान परिहरण करना चाहिए ॥४१७॥

क्रोधके वशीभूत होकर जब कोई अन्य जीवका वध करता है तब कालक्रमसे स्वयं भी तो मरणको प्राप्त होता है। अतएव जो मारा जाता है और जो मारता है उनके बीच मरण कालके थोड़ेसे अन्तरके सिवाय कोई विशेषता नही है ॥४१८॥

इन कारणोसे इन लोक व परलोकमे दुखकी इच्छा न करनेवाले मुनिको सदैव जीव-दयामे अपना उपयोग लगाना चाहिए ॥४१९॥

इस लोकमे जितने प्राणी है चाहे वे त्रस हो अथवा स्थावर उन्हे जान-बूझकर अथवा बिना जाने प्रमादवश न स्वयं मारे और न उनका दूसरो द्वारा घात करावे ॥४२०॥

चाहे कोई स्वयं प्राण-घात करे अथवा अन्य जनो द्वारा करावे या हनन करनेवालेका अनुमोदन करे वह यथार्थत. अपने ही प्रति वैर भावकी वृद्धि करता है ॥४२१॥

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषोके उपदेशका साराश यही है कि कोई किसीकी हिंसा न करे। वस इतना ही अहिंसा विषयक धर्म-शास्त्र है ऐसा जानना चाहिए ॥४२२॥

समस्त युक्तियो व तर्कोसे यही शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है कि समस्त जीव अपने-अपने कर्मोसे उत्पन्न दुखोसे आक्रात है अतएव उनकी हिंसा करके उन्हे और अधिक दुखी न वनाया जाय ॥४२३॥

जो दमनशील मुनि अपने कर्मोके आस्रवका निरोध करता हुआ समस्त जीवोको अपने ही समान समझता हुआ उनके प्रति सद्भावपूर्ण दृष्टि रखता है वह पाप कर्मका वन्ध नही करता ॥४२४॥

जैसे सुख सावनोंकी अपने लिए इच्छा करते हो और जैसे अपनेको दुखमे डालनेकी इच्छा नही रखते इसी प्रकार दूसरे प्राणियोके लिए भी दुखकी नही किन्तु सुखकी इच्छा करो। वस जिनेन्द्र भगवान्‌का यही उपदेश है ॥४२५॥

सत्य वचन

जो राग या द्वेप अथवा मोहके वशीभूत होकर असत्य वचन वोलनेका भाव भी अपने मनमे कभी न आने दे वही सावु है और यही उसका द्वितीय महाव्रत होता है ॥४२६॥

सभी चारो प्रकारके असत्य वचनका त्याग कीजिए। क्योकि धारण किया हुआ सयम भापा दोपके कारण कर्मवन्धसे अनुलिप्त हो जाता है ॥४२७॥

प्रथम प्रकारका असत्य वचन वह है जव कोई होनेवाली यथार्थ वातका निपेव करे। जैसे यदि कोई कहे कि मनुष्यकी अकाल मृत्यु नही होती तो यह वात असत्य होगी क्योकि प्रत्यक्षसे ही अकाल मृत्यु सिद्ध है और उसे शास्त्रमे कदली घात मरण कहा गया है। ऐसी सभी प्रत्यक्ष तथा शास्त्र सम्मत वातोको झूठ कहना असत्य-भापण है ॥४२८॥

जं अगमभूदुब्भावणाभेद विदियं असच्चवयणं तु।
अत्थि सुराणमकाले मच्चु त्ति जहेवमादीयं ॥४२९॥

तदियं असच्च-वयणं सतं जं कुणदि अण्ण-जादीय।
अविचारित्ता गोणं अस्सो त्ति जहेवमादीयं ॥४३०॥

जं वा गरहिद-वयणं जं वा सावज्ज-सजुदं वयणं।
जं वा अप्पिय-वयणं असच्च-वयण चउत्थं च ॥४३१॥

कक्कस-वयणं णिट्ठुर-वयण पेसुण्ण-हास-वयणं च।
जं किंचि विप्पलावं गरहिद-वयण समासेण ॥४३२॥

फरुसं कडुयं वयणं वेरं कलह च जं भय कुणइ।
उत्तासणं च हीलणमप्पिय-वयणं समासेण ॥४३३॥

हास-भय-लोह-कोह-प्पदोसयादीहिं तुमे पयत्तेण।
एय असच्च-वयण परिहरिदव्व विसेसेण ॥४३४॥

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिद सविसए य।
भत्तादि-कहा-रहिय भणाहि तं चेव हि सुणाहि ॥४३५॥

जल-चंदण-ससि-मुत्ता-चदमणी तह णरस्स णिव्वाण।
ण करति कुणइ जह अत्थ-जुय हिद-मधुर-मिद-वयणं ॥४३६॥

अण्णस्स अप्पणो वा वि धम्मिए विद्दवतरा कज्जे।
जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जप ॥४३७॥

माया व होइ विस्ससणिज्जो पुज्जो गुरु व्व लोगस्स।
पुरिसो हु सच्च-वाई होदि हु सुणिउल्लओ व्व पिओ ॥४३८॥

जो वात कभी होती नही उसका होना बतलाना दूसरे प्रकारका असत्य वचन है जैसे यह कहना कि देवोकी अकाल मृत्यु होती है क्योकि प्रत्यक्ष दिखाई न देनेपर भी शास्त्रमे कहा गया है कि देवोके पुण्य प्रभावसे उनकी विना आयु पूर्ण हुए मृत्यु नही होती। ऐसी ही अन्य बाते भी ॥४२९॥

तीसरे प्रकारका असत्य वचन वह है जब कोई किसी एक प्रकारकी सत्य वातको अन्यथा प्रकार कहता है। जैसे गाय या बैलको देखकर विना विचारे कह दे कि घोडा जा रहा है इत्यादि ॥४३०॥

निन्दात्मक सत्य वचन भी किसी पाप या दोषसे सयुक्त अथवा किसीको अप्रिय लगनेवाले वचन वोलना चतुर्थ प्रकारका असत्य वचन है ॥४३१॥

इसी कोटिमे आते है कर्कश व निष्ठुर वचन चुगलखोरी हँसी-मजाक व अनावश्यक प्रलाप क्योकि ये भी गर्हित वचन हैं। इसी प्रकार कठोर व कटु वचन वैर व कलह की अथवा भय जनक वाणी, त्रास-दायक लज्जोत्पादक व अप्रिय वचन तथा हास्य, भय, लोभ व क्रोध आदि दोपोसे उत्पन्न वचन भी असत्यमे ही आते हैं अत इन सबका साधकको प्रयत्न पूर्वक परिहार करना चाहिए ॥४३२–४३४॥

ऊपर जो असत्य वचनके नाना प्रकार कहे उनसे विपरीत अपने कार्यके विषयमे यथोचित समयपर परिमित शब्दोमे विपयान्तर न होते हुए भी भक्त अर्थात् खाने-पीने आदिकी बातोको छोडकर जो बोला जाय वह सत्य वचन है। वही बोलना चाहिए और वही सुनना चाहिए॥४३५॥

जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती व चन्द्रमणि आदि शीतल पदार्थ मनुष्यको वह सुख-शान्ति नही पहुँचा सकते जैसी सार्थक हितकारी मधुर और परिमित वचन पहुँचाते है ॥४३६॥

अपने अथवा दूसरोके किसी धर्म सम्बन्धी विद्यमान कार्यके उपस्थित होनेपर जो विना पूछे अथवा दूसरोके द्वारा पूछे जानेपर जो कुछ उचित व आवश्यक हो उतना अवश्य बोलिए ॥४३७॥

वह पुरुष माताके समान विश्वसनीय तथा गुरुके समान लोक द्वारा पूजनीय होता है जो सत्यवादी हो। वही श्रवण करने योग्य विद्वान्के समान प्रिय भी होता है ॥४३८॥

विवादग्रस्त लोगोके बीच मध्यस्थता करते समय जो दोष रहित सत्य वचन ही वोलता है वह लोगोका परम स्नेह प्राप्त करता है और जगद्विख्यात यश भी पाता है ॥४३९॥

सत्य ही तप है, सत्यमे ही सयम है तथा शेष समस्त गुण भी सत्यमे ही निवास करते है। सभी गुणोका सत्य ही आश्रय है जैसे मछलियोका आश्रय उदधि अर्थात् समुद्र व अन्य जलाशय हैं ॥४४०॥

भले ही अन्य कोई गुण न हो किन्तु यदि मनुष्यमे सत्यभाषी होनेका गुण हो तो उसी सत्यमात्रके बलसे वह जगत्-भरमे सबका प्रमाण अर्थात् विश्वासपात्र बन जाता है। किन्तु अत्यन्त सयमी होते हुए भी कोई पुरुष असत्यभाषी हो तो इस असत्यके कारण वह छोटे-से तृणके समान तुच्छ माना जाता है ॥४४१॥

चाहे कोई शिखण्डी अर्थात् शिखाधारी बाल ब्रह्मचारीके समान हो, जटाधारी ऋषि हो, मुण्डी-नग्न या वस्त्रधारी श्रमण हो किन्तु वह असत्य वचन बोलता है तो उसकी वह सब साधना विडम्बना है, निष्फल है ॥४४२॥

जिस प्रकार उत्तम अन्नका विनाशक विष है व यौवनको नष्ट करनेवाला वुढापा है। उसी प्रकार अहिंसादि समस्त गुणोका विनाशक असत्य वचन है ऐसा जानिए ॥४४३॥

एकमात्र असत्य वचनके कारण पुरुष अपनी माताके भी द्वेष अर्थात् अविश्वासका भाजन बन जाता है फिर वह असत्यसे अन्य जनोका शत्रु क्यो नही होगा ॥४४४॥

थोडा-सा भी असत्य भाषण बहुत-से सत्य वचनोका घात कर डालता है तथा असत्यभापी पुरुष स्वय भी अत्यन्त शकित रहता है ॥४४५॥

असत्य भापणमे अनेक दुर्गुण समाविष्ट होते है जैसे अविश्वास, अपयश, झगडा, बेचैनी, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्धन, भेद, धन-नाश आदि ॥४४६॥

किन्तु जो साधु मिथ्या भाषणके दोषोका निवारण करता है वह पूर्वोक्त दोषोसे मुक्त होता हुआ उनके विपरीत गुणोसे लाभान्वित होता है ॥४४७॥

अत नाना-बन्धनोके मार्गोकी समीक्षा करते हुए ज्ञानी पुरुषको स्वय सत्यकी ही गवेषणा करनी चाहिए और इस प्रकार समस्त जीवोके साथ मैत्रीका निर्माण करना योग्य है ॥४४८॥

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं णिसिर अत्तवं ॥४४९॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं ण मुसं बूया णो वि अण्णं वयावए ॥४५०॥

मुसावाओ य लोगम्मि सव्व-साहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥४५१॥

णिच्च-कालऽप्पमत्तेण मुसा-वाय-विवज्जण ।
भासियव्व हियं सच्च णिच्चाउत्तेण दुक्करं ॥४५२॥

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जिए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥४५३॥

सवक्क-सुद्धिं समुपेहिया मुणी
गिरं च दुट्ठ परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठ अणुवीइ भासए
सयाण मज्झे लहई पसंसण ॥४५४॥

तहेव फरुसा भासा गुरु-भूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा ण वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥४५५॥

वितह पि तहामुत्तिं ज गिरं भासए णरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥४५६॥

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।
सीहो व सद्देण ण संतसेज्जा
वय-जोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥४५७॥

आत्मवान् अर्थात् गुणी पुरुपको दिष्ट अर्थात् प्रमाणित, मित, कमसे-कम शब्दोमे असन्दिग्ध परिपूर्ण सुस्पष्ट बकवाद रहित व खेद रहित भाषण करना चाहिए ॥४४९॥

अपने स्वार्थ अथवा दूसरेके हितार्थ या क्रोधसे व भयसे कोई हिंसा-जनक झूठ बात न स्वय बोलना चाहिए और न दूसरेसे कहलाना चाहिए ॥४५०॥

मिथ्या भाषण लोक-भरमे सभी साधु पुरुषो द्वारा निन्दनीय माना गया है। असत्य बोलनेवाले-पर-से लोगोका विश्वास हट जाता है। अतएव असत्य वचनका परित्याग करना उचित है ॥४५१॥

सदैव प्रमाद-रहित होकर असत्य भाषणसे बचते रहना चाहिए और वही बात कहना चाहिए जो सत्य हो और हितकारी हो। यह दुष्कर कार्य तभी सम्भव है जब सदा सावधान रहा जाये ॥४५२॥

भाषाके दोषो और गुणोको जानकर उसके दोपोंका सदैव निवारण करते रहना चाहिए। पाँचो इन्द्रियो और मन इन छहोपर सयम रखते हुए श्रमण साधु सदैव जगत्मे बुद्धिपूर्वक हित और सत्यानुकूल भाषण करे ॥४५३॥

मुनिको सदैव अपने वचनोकी शुद्धिपर ध्यान देते रहना चाहिए और सदोप वाणीका निवारण करते रहना चाहिए। वह परिमित दोषरहित व सत्यानुकूल भाषण करे तभी वह सत्पुरुषोके मध्य प्रशंसा प्राप्त कर सकता है ॥४५४॥

उसी प्रकार कठोर भाषा बहुत लोगोको चोट पहुँचाती है। सत्य भाषा भी ऐसी न बोले जिससे पापका आगमन हो ॥४५५॥

जब कोई मनुष्य तथ्यहीन किन्तु सत्य समान दिखनेवाली बात कहता है तब भी उसे पापका स्पर्श होता ही है। फिर जो सरासर झूठ ही बोलता है उसके पापका क्या ठिकाना है ॥४५६॥

जिस समय जो क्रिया करनी चाहिए वही करे। राष्ट्रके देश-प्रदेशमे विचरता रहे। कोई भी कार्य करनेके पहले अपनी शक्ति-अशक्तिको जान-समझ ले। यदि कोई उसे कठोर या असभ्य शब्द भी कहे तो भी वह सिंहके समान निडर रहे। किन्तु बदलेमें अपने व्रत व योगका त्याग कर असत्य भाषण न करे ॥४५७॥

अचोरिय-चारित्त

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण पर-वत्थुं ।
जो मुयदि गहण-भावं तदिय-वदं होदि तस्सेव ॥४५८॥

मा कुणसु तुम बुद्धी बहुमप्पं वा पराविय घेत्तुं ।
दंतंतर-सोधणयं कलिंच-मेत्तं पि अविदिण्णं ॥४५९॥

जह मक्कडओ धाइड-फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स ।
दूरत्थस्स वि डेवदि घेत्तूण वि जइ वि छंडेदि ॥४६०॥

एव जं ज पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।
सव्व-जगेण वि जीवो लोभाइट्ठो ण तिप्पेदि ॥४६१॥

जह मारुओ पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।
जीवस्स तहा लोहो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥४६२॥

लोभे पवड्ढए पुण कज्जाकज्ज णरो ण चिंतेदि ।
तो अप्पणो वि मरणं अगणेंतो साहस कुणदि ॥४६३॥

सव्वो उवहिद-बुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ।
सत्तिप्पहार-विद्धो व होदि हिदयम्मि अदि-दुहिदो ॥४६४॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगद-चेयणो होई ।
मरदि य हक्कार-किदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥४६५॥

अडई-गिरि-दर-सागर-जुद्धाणि अडंति अत्थ-लोभादो ।
पिय-बंधवे वि जीवं पि णरा पयहंति धण-हेदुं ॥४६६॥

अत्थे संतम्हि सुहं जीवदि सकलत्त-पुत्त-संबंधी ।
अत्थं हरमाणेण य हिद हवदि जीविदं तेसिं ॥४६७॥

चोरस्स णत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।
चोरस्स अत्थ-हेदुं णत्थि अकादव्वयं कि पि ॥४६८॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥४६९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति पर-दव्व-हरण-विरदस्स ।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्त-भोइस्स ॥४७०॥

बम्भचरिय-चारित्त

दट्ठूण इत्थि-रूवं वछा-भावो णिवत्तदे तासु ।
मेहुण-सण्ण-विवज्जिय-परिणामो अह च तुरिय-वदं ॥४७१॥

रक्खाहि बभचेरं अव्बंभ दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पचविधो इत्थि-वेरग्गे ॥४७२॥

जीवो वंभा जीवम्मि चेव चरिया हवेज्ज जा जदिणो ।
त जाण बभचेर विमुक्क-परदेह-वित्तिस्स ॥४७३॥

इत्थि-विसयाभिलासो वत्थि-विमोक्खो य पणिद रस-सेवा ।
ससत्त-दव्व-सेवा तदिंदियालोयण चेव ॥४७४॥

सक्कारो सकारो अदीद-सुमरणमणागदभिलासं ।
इट्ठ-विसय-सेवा वि य अव्वंभं दसविह एद ॥४७५॥

एदं विसग्गि-भूदं अव्वभ दसविहं पि णादव्वं ।
आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥४७६॥

काम-कदा इत्थि-कदा दोसा असुचि वुड्ढसेवा य ।
संसग्गयदोसा वि य करेंति इत्थीसु वेरग्ग ॥४७७॥

चोरके हृदयमे न तो कोई दया होती, न लज्जा, न दमन-शीलता और न विश्वास। जब धन हड़पनेकी बात आती है तब ऐसा दुष्कृत्य नही है जो चोर न कर सके ॥४६८॥

चोरीके कारण मनुष्य अपने बन्धुजन, इष्ट, मित्र तथा सेवक आदि आश्रित जनोको महान् सकटमे तथा अपयश और भीषण दुखमे ला पटकता है ॥४६९॥

इस प्रकारके समस्त दोष परद्रव्यापहरणके त्यागका व्रत रखनेवाले पुरुषको नही होते। जो दी हुई वस्तुमात्रका ग्रहण व उपभोग करता है वह उक्त दोषोसे विपरीत गुणोका भागी होता है ॥४७०॥

ब्रह्मचर्य चारित्र

स्त्रीके सुन्दर रूपको देखकर भी जो साधु पुरुष उसकी इच्छा नही करता व अपने मनमे संसर्गका भाव भी उत्पन्न नही होने देता वही पुरुष ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ व्रतका पालक है ॥४७१॥

दश प्रकारके ब्रह्मचर्यके दोषोको बचाकर ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करनी चाहिए। नित्य ही प्रमादका त्याग करके स्त्रियोके प्रति पाँचो ही प्रकार-की विरक्ति रखना उचित है ॥४७२॥

जीव ही ब्रह्म है अतः जीवमे ही जो यतिकी चर्या अर्थात् तल्लीनता जिसमे परदेहसे सर्वथा विमुक्ति ही होती है उसीको सच्चा ब्रह्मचर्य समझना चाहिए ॥४७३॥

स्त्रीसे विषय-भोगकी अभिलाषा, उसके गुह्यागको उघाडना, मनचाहे रसोका सेवन, मिश्रित द्रव्योका सेवन, स्त्रियोकी आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियोका अवलोकन, उनका सत्कार व सस्कार अतीत कालके विषय, भोगोका स्मरण, आगामी सुख-भोगकी अभिलाषा तथा इच्छित विषयका सेवन ये अब्रह्मके दश भेद हैं ॥४७४–४७५॥

इस दशो प्रकारके अब्रह्मचर्यको विष व अग्निके समान घातक समझना चाहिए। वह प्रारम्भमे तो मधुर दिखाई देता है किन्तु उसका परिणाम बहुत कटु होता है ॥४७६॥

काम-वासनासे उत्पन्न व स्त्रियोमे पाये जानेवाले दोषोपर विचार करने, उनकी अशुद्धि पर ध्यान देने, वृद्ध पुरुषोकी सेवा तथा ससर्ग जन्य दोषोको समझ लेनेसे स्त्रियोके प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता हैं ॥४७७॥

जावइया किर दोसा इह-पर-लोए दुहावहा होंति ।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुण-सण्णा मणुस्सस्स ॥४७८॥

सोयदि विलवदि परितप्पदी य कामादुरो विसीदयदि ।
रत्तिं दिवा य णिद्द ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥४७९॥

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ।
काम-पिसायग्गहिदो ण रमदि तह भोयणादीसु ॥४८०॥

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ।
सीदति य अंगाइं होदि य उक्कठिओ पुरिसो ॥४८१॥

कामादुरो णरो पुण कामिज्जते जणे दु अलहते ।
वत्तदि मरिदुं वहुधा मरुप्पवादादि-करणेहिं ॥४८२॥

संकप्पंडय-जादेण राग-दोस-चल-जमल-जीहेण ।
विसय-बिल-वासिणा रदि-मुहेण चिंतादि-रोसेण ॥४८३॥

काम-भुजएण दट्ठा लज्जा-णिम्मोग-दप्प-दाढेण ।
णस्संति णरा अवसा अणेय-दुक्खावह-विसेण ॥४८४॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ।
दस होंति पुणो वेगा काम-भुयगावरुद्धस्स ॥४८५॥

पढमे सोयदि वेगे दट्ठु त इच्छदे विदिय-वेगे ।
णीससदि तदिय-वेगे आरुहदि जुरो चउत्थम्मि ॥४८६॥

डज्झदि पंचम-वेगे अंगं छट्ठेण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए ॥४८७॥

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्प-वसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥४८८॥

इस जन्ममे तथा जन्मान्तर होनेपर परलोकमे जितने दोष दुखोत्पादक होते हैं उन सबकी जननी मनुष्यकी यह मैथुन सज्ञा ही है ॥४७८॥

कामकी आतुरताके वशीभूत हुआ मनुष्य सोचमे पड़ा रहता है, विलाप करता है, परितप्त होता है, विषाद करता है तथा दिन-रात निद्रा न पाता हुआ उदास मनसे अपनी प्रियाका ध्यान किया करता है ॥४७९॥

कामरूपी पिशाचसे ग्रसित मनुष्य न तो अपने स्वजन सम्बन्धियोके साथ शयन व आसनमे, न ग्राम, घर या वनमे और न भोजनादि क्रियाओमे कुछ सुख मानता है ॥४८०॥

कामातुर पुरुषका एक क्षण भी वर्ष-भरके समान बीतता है। उसके समस्त अग-प्रत्यग ढीले पड जाते है और वह सदैव उत्कण्ठित रहता है ॥४८१॥

कामातुर मनुष्य जब अपने प्रियजनको पानेमे असफल रहता है तब वह निराश होकर भृगुपात आदि उपायोसे आत्मघात करनेका प्रयत्न करने लगता है ॥४८२॥

यह कामरूपी भुजग सकल्प-विकल्परूपी मनोभावसे उत्पन्न होता है। उसकी राग और द्वेषरूपी दो लपलपाती हुई जिह्वाएँ होती हैं। वह इन्द्रियोके विषयरूपी विलमे निवास करता है। रति ही उसका मुख है और चिन्ता ही उसका रोष है। उसके अनेक प्रकारसे दुखदायी निर्लज्जता व दर्परूपी दाढसे दष्ट होकर मनुप्य विवशतापूर्वक विनाशको प्राप्त होते हैं ॥४८३-४८४॥

सर्पसे दष्ट मनुष्यके तो केवल सात ही आवेग होते है किन्तु कामरूपी विपैले सर्पसे दष्ट होनेपर उसको दश आवेग आते हैं ॥४८५॥

कामरूपी सर्पके दशके पहले आवेगसे मनुष्य सोचमे पड जाता है। दूसरे आवेगमे अपने प्रियजनको देखनेकी इच्छा करने लगता है। तृतीय आवेगमे वह साँसे भरने लगता है तथा चतुर्थ वेगमे वह ज्वरग्रस्त हो जाता है। पाँचवे वेगमे उसे दाह उत्पन्न होने लगता है। छठे दौरमे उसे भोजनकी भी रुचि नही रहती। सप्तम दौरमे मूर्च्छा तथा अष्टममे उन्माद होने लगता है। नवम वेगके फलस्वरूप चेतना-विहीन होकर अपनी जानने-समझनेकी शक्ति खो वैठता है तथा अन्तिम दशवे दौरमे उसका प्राणान्त हो जाता है। ये वेग कामासक्त मनुष्यके सकल्पानुसार तीव्र या मन्द होते हैं ॥४८६–४८८॥

ज्येष्ठामूल नक्षत्रमे चन्द्रके होनेपर अर्थात् ग्रीष्म ऋतुके ज्येष्ठ मासमे भी स्वच्छ आकाशके बीच मध्याह्न कालमे भी सूर्य इतना ताप उत्पन्न नहीं करता जितना कि बढता हुआ काम-वेग पुरुषके हृदयमे दाह उत्पन्न करता है ॥४८९॥

सूर्याग्नि तो केवल दिनमे ही ताप देती है किन्तु कामाग्नि पुरुषको रात-दिन जलाती है। सूर्यके तापसे बचनेके लिए शीतल छायादि उपाय भी हैं किन्तु कामाग्निके तापसे बचनेका कोई उपाय नही ॥४९०॥

सूर्याग्निके तापका जल, चन्दन आदि द्रव्यों द्वारा शमन किया जा सकता है किन्तु कामाग्निके उपशमनके लिए ऐसे कोई द्रव्य उपलभ्य नही हैं। सूर्याग्नि केवल शरीरकी बाहरी त्वचाको जलाती है किन्तु कामाग्नि देहके बाहर-भीतर सर्वत्र दाह उत्पन्न करती है ॥४९१॥

किन्तु जो ब्रह्मचारी पुरुष है उसे ये सव दोष नही सताते। वीतरागी पुरुषके तो उनसे विपरीत बहुत-से गुण प्रकट होते हैं ॥४९२॥

काम भोगोके रसके जानकारके लिए अब्रह्मचर्य मैथुनसे बिलकुल विरक्त होना अत्यन्त कठिन बात है। घोर अखण्ड ब्रह्मचर्यरूपी महाव्रत पालन करना बहुत दुष्कर है ॥४९३॥

जो स्वादिष्ट भोजन-पान शीघ्र ही मदकी वृद्धि करता है उसका ब्रह्मचर्यके पालन करनेवाले साधुको सदैव त्याग करना चाहिए ॥४९४॥

ब्रह्मचर्य व्रतके पालनमे अनुरक्त भिक्षुको भूषण-वसन आदिका त्याग करना चाहिए तथा शरीरके शृगार हेतु किसी भी प्रकारका अलकार धारण नही करना चाहिए ॥४९५॥

ब्रह्मचारी पुरुषको स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द इन पाँचो प्रकारके इन्द्रिय विषयोका सदैव परित्याग करना उचित है ॥४९६॥

देवलोक तकके समग्र लोकमे जो कुछ भी शारीरिक तथा मानसिक दुख हैं वे सव सचमुच कामभोगोकी आशक्तिसे ही उत्पन्न हुए है। इसलिए वीतराग पुरुष ही उन दुखोका पार पा सकते है ॥४९७॥

विभूषा तथा स्वादिष्ट भोजन ये पुरुषको स्त्री ससर्गकी ओर खीचनेवाले हैं। अत आत्म-गवेषी साधुके लिए ये तत्काल मरण करानेवाले तालपुट विषके समान है ॥४९८॥

अब्रह्मचर्य एक घोर प्रमाद है जिसका सेवन दुराचारी मनुष्य ही करते हैं। अत लोकमे सदाचरणको भग करनेवाली वातोसे वचनेवाले मुनिजन उसका सेवन नही करते ॥४९९॥

जिस प्रकार सूखे ईंधनरूप सूखे वृक्षोसे भरे हुए वनमे पवनके झकोरो सहित उत्पन्न हुई दावानल बुझती नही है उसी प्रकार विविध प्रकारके रसवाले आकारोको भोगनेवाले किसी भी ब्रह्मचारीकी इन्द्रिय-रूपी अग्नि हितकारी नही होती ॥५००॥

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर जातिके देव भी उस पुरुपको नमस्कार करते हैं जो अत्यन्त दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हैं ॥५०१॥

यह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मचर्य ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। इस धर्मको धारण कर अनेक जीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं तथा अन्य धर्मावलम्बी आगामी कालमे भी सिद्ध होते रहेगे ॥५०२॥

अपरिग्रह चारित्र

सम्यक् चारित्रके भारको वहन करनेवाले साधुका पचम व्रत है निरपेक्ष भावनापूर्वक समस्त ग्रन्थो अर्थात् परिग्रहोका त्याग ॥५०३॥

जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं कि हे साधु, तुम अपने मन, वचन, कायसे तथा कृत-कारित और अनुमोदना भावसे समस्त अन्तरग और वहिरग परिग्रहोका परित्याग करो ॥५०४॥

अभ्यन्तर ग्रन्थियाँ चौदह प्रकारकी हैं—मिथ्यात्व, पुल्लिगादि तीन वेदोका अनुराग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और ग्लानि ये छह नोकपाय रूप दोप तथा क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय ये मोहनीय कर्मजन्य चौदह आभ्यन्तर परिग्रह है ॥५०५॥

वाह्य परिग्रह हैं—क्षेत्र वास्तु अर्थात् घर-द्वार, धन-धान्य, वर्तन-भाँडे, दुपाये—सेवक, मनुष्य, चौपाये—गाय, भैंस आदि पशु, गाडी, पालकी आदि वाहन तथा शय्या व आसन आदि गृहस्थीकी सामग्री ॥५०६॥

जिस प्रकार भूसी सहित कोदव तथा तुष सहित तन्दुल अर्थात् धान-को शुद्ध करना शक्य नही उसी प्रकार परिग्रहमे आशक्त जीवके मोह-रूपी मलका शोधन करना कठिन है ॥५०७॥

जव राग, लोभ, मोह एव आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार सज्ञाओ तथा शब्द ऋद्धि एव सात रूप तीन गारवोकी उदीरणा अर्थात् तीव्रतासे कर्मोदय होता है तभी मनुष्य पूर्वोक्त परिग्रहोके सचय हेतु मन करता है ॥५०८॥

यदि कथचित् उन परिग्रहोका सचय भी हो जाये तो भी लोभी पुरुष-को उनसे तृप्ति नही होती क्योकि मोहका यह नियम है कि जितना लाभ उससे उतनी ही लोभकी वृद्धि होती है ॥५०९॥

जैसे ईंधनसे अग्निकी तथा सैकडो नदियोसे लवण समुद्रकी तृप्ति नही होती उसी प्रकार त्रैलोक्यकी सम्पत्ति प्राप्त हो जानेपर भी लोभग्रसित जीवको सन्तोष नही होता ॥५१०॥

तृप्तिके न होनेपर निरन्तर तृष्णा ग्रसित होते हुए हाय-हाय करने व राग रजित चित्तवाले मनुष्यको क्या सुख मिल सकता है ॥५११॥

वह मासके लोभी पक्षीका अन्य पक्षियो द्वारा मारे जानेके समान अपराधी न होनेपर भी लोभवश हनन किया जाता, मारा जाता, बाँधा जाता और अवरुद्ध किया जाता है ॥५१२॥

लोभी पुरुष अपने ही माता, पिता, पुत्र व पत्नीका भी विश्वास नही करता और अपनी धन-सम्पत्तिकी रक्षाके निमित्त सारी रात जागता रहता है ॥५१३॥

अथवा यदि जल, अग्नि व मूषको आदिके उपद्रवसे उसके धन-धान्य-की हानि हो जाये तो लोभी पुरुष तीव्र दुखका अनुभव करता है ॥५१४॥

परिग्रह त्याग वृत्तिसे मनुष्य उक्त सब दोषोसे मुक्त हो जाता है तथा उन दोषोसे विपरीत सद्गुणोका लाभ प्राप्त करने लगता है ॥५१५॥

परिग्रह त्याग इन्द्रियोको वशमे करने हेतु उसी प्रकार सफल होता है जैसे हाथीके वशीकरणके लिए अकुश। अपरिग्रह इन्द्रियोके गोपनका वैसा ही सफल उपाय है जैसा नगरकी रक्षाके लिए खाई ॥५१६॥

जिस प्रकार भार ढोनेवाला पुरुष अपने भारको उतारकर सुखी होता है उसी प्रकार परिग्रहका त्याग कर निरासक्त साधु निश्चिन्त रहता है ॥५१७॥

इसलिए हे साधु पुरुष, अपने समस्त अतीत, वर्तमान और भविष्यत्-कालीन आसक्तियोका सदैव कृतकारित व अनुमोदित भावोसे निवारण करो ॥५१८॥

समस्त ग्रन्थियोसे मुक्त होकर निश्चिन्त व प्रसन्न-चित्त हुआ साधु जैसी प्रीति व सुखका अनुभव करता है उसे कोई चक्रवर्ती सम्राट् भी नही पा सकता ॥५१९॥

जो मनुष्य दुर्बुद्धि पूर्वक पापकर्मो द्वारा धनका सचय करते हैं वे मरनेपर उस सबको छोड कर्मोके जालमे फँसकर वैरानुबन्धके कारण नरकमे जा पड़ते हैं ॥५२०॥

जिस प्रकार चोर अपनी ही लगायी सेंधके द्वारमे फँसकर स्वकर्मके पापका भागी होता है उसी प्रकार समस्त प्रजा इस लोक और परलोकमे अपने कर्मोका फल भोगती है। किये हुए कर्मोसे उनका फल भोगे बिना मुक्ति नही मिलती ॥५२१॥

ससारमे आकर जो कोई दूसरेके लिए भी सहायतारूप यदि कुछ दुष्कर्म करता है तो उस कर्मका फल भोगते समय वे बन्धुजन उसके सहायक नही बनते ॥५२२॥

प्रमादी पुरुष अपने धनके द्वारा दुष्कर्मके फलसे इस लोक व परलोकमे त्राण नही पा सकता। जिस प्रकार प्रकाश देनेवाले दीपकके बुझ जानेपर घोर अन्धकारमय गुफामे-से पार पानेका मार्ग देखनेमे असमर्थ होता है ॥५२३॥

हम सुखसे रहते और सुखसे जीते हैं क्योकि हमारे पास रक्षाकी चिन्ता करने योग्य कोई परिग्रह नही है। मिथिला नगरी आगसे दग्ध हो जाये तो भी मेरे आत्मस्वरूपका कुछ नही जल पाता। यह मिथिलाके उन नमिनामक नरेशका वचन है जो निष्काम कर्म व निरासक्त भावके आदर्श पुरुष माने गये हैं ॥५२४॥

भिक्षु अपने पुत्र-कलत्रको छोडकर गृहस्थीके काम-काजसे निर्वृत्त हो गया है उसके लिए न कुछ प्रिय है और न अप्रिय अर्थात् वह राग-द्वेषसे रहित होकर शुद्ध आत्मचिन्तनका सुख पाता है ॥५२५॥

जो भिक्षु गृह-द्वार छोडकर समस्त गृहस्थीके बन्धनोसे मुक्त हो गया और एकान्त रूपसे आत्मचिन्तन करने लगा वही मुनि है और वही विपुल कल्याणका भागी है ॥५२६॥

जो धनाढय दानी प्रतिमास दश लाख गौओका दान करता है उससे भी श्रेष्ठ वह सयमी पुरुष है जिसके पास देनेको कुछ भी नही है ॥५२७॥

सोने और चांदीके पर्वतोके समान ढेर लग जाये और चाहे असख्य कैलास सदृश। किन्तु लोभी मनुष्यकी तृष्णा उससे कभी भी कम नही होती क्योकि इच्छा आकाशके समान अनन्त है ॥५२८॥

पुढवी साली जवं चेव हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं णालमेगस्स इइ विज्जा तवं चरे ॥५२९॥

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दोग्गइं ॥५३०॥

छंदं णिरोहेण उवेइ मोक्खं आसे जहा सिक्खिय-कम्मधारी ।
पुव्वाइँ वासाइँ चरप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥५३१

समिदि-परूवणं

इरिया-भासेसणादाणे उच्चारे समई इय ।
एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे ॥५३

आलंवणेण कालेण मग्गेण जयणाए य ।
चउ-कारण-परीसुद्धं सजए इरियं रिए ॥५३३॥

तत्थ आलंवणं णाणं दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पह-वज्जिए ॥५३४॥

भूमि, शालि, यव, सुवर्ण व पशु ये जितने हैं वे सब यदि एक पुरुषकी सम्पत्ति वन जाये तो भी उसे सन्तोष नही होगा। ऐसा विचार कर मनुष्यको सयमका अभ्यास करना चाहिए ॥५२९॥

समस्त कामनाएँ शल्यके समान चुभनेवाली है, विषके समान घातक तथा आशीविप सर्प सदृश विनाशकारी हैं। ऐसे कामभोगोकी इच्छा करनेवाला भले ही वे उसे उपभोग करनेको न मिले तो भी वह दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥५३०॥

जैसे स्वच्छन्दताके निरोध द्वारा सधा हुआ और कवचधारी घोडा युद्धमे विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार साधक मुनि अपनी स्वच्छन्द पूर्वकालीन वासनाओको रोक अप्रमत्त भावसे आचरण करता हुआ शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है ॥५३१॥

समिति प्ररूपणा

ईर्या, भाषा, एपणा, आदान और उच्चार ये पाँच समितियाँ सदाचरणकी प्रवृत्तिमे महत्त्वपूर्ण हैं ॥५३२॥

आलम्वन, काल, मार्ग और उपभोग इन चार कारणोसे परिशुद्धि हुई ईर्या समितिसे साधुको गमन करना चाहिए ॥५३३॥

इनमे ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र ये तीन साधन ईर्या समितिके आलम्बन हैं। दिन-भर ईर्याका काल है। रात्रिको ईर्या शुद्ध न होनेसे सयमीको अपने स्थानसे वाहर निकलनेका निषेध है। टेढे-मेढे मार्गसे न जाकर सीधे-सरल मार्गसे जाना यह ईर्या समितिका मार्ग है। कुमार्गमे जानेसे सयमकी विराधना हो जानेकी सम्भावना है ॥५३४॥

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा ।
जायणा चउविहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण ॥५३५॥

दव्वओ चक्खुसा पेहे जुग-मेत्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ ॥५३६॥

इंदियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियं रिए ॥५३७॥

कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए विकहासु तहेव य ॥५३८॥

एयाइँ अट्ठ ठाणाइ परिवज्जित्तु संजए ।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पण्णवं ॥५३९॥

गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाए य ।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिण्णि विसोहए ॥५४०॥

उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं ।
परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई ॥५४१॥

ओहोवहोवग्गहियं भंडगं दुविहं मुणी ।
गिण्हंतो णिक्खिवंतो वा पउंजेज्ज इमं विहिं ॥५४२॥

चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए णिक्खिवेज्जा वा दुहओ वी समिए सया ॥५४३॥

ईर्या समितिका चौथा कारण उपयोग है। उस उपयोगके भी चार भेद हैं उन्हे मै विस्तारपूर्वक यहाँ कहता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥५३५॥

दृष्टिसे उपयोगपूर्वक देखना इसे द्रव्य उपयोग कहते है। मार्गमे चलते हुए चार हाथ प्रमाण आगे देखकर चलना यह क्षेत्र उपयोग है। जबतक दिन रहे तभी तक चलना इसको काल उपयोग और चलते समय चित्तकी वृत्ति ठीक रखना इसको भाव उपयोग कहते हैं ॥५३६॥

चलते समय पाँच इन्द्रियोके विषयो तथा पॉच प्रकारके स्वाध्यायोको छोड़कर मात्र चलनेकी क्रियाको ही मुख्यता देकर और उसीमे ही उपयोग रखकर गमन करना चाहिए ॥५३७॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, निद्रा तथा विकथा–अनुपयोगी कथा वार्तालाप—इन आठो दोपोको बुद्धिमान् साधक त्याग दे और उनसे रहित निर्दोप परिमित तथा उपयोगी भापा ही वोले। इसे भापा समिति कहते है ॥५३८–५३९॥

आहार, उपधि और शय्या (पाट या पाटल) इन तीनों वस्तुओकी गवेपणा (ग्रहण अथवा उपयोग) करनेमे सयम, धैर्यपूर्वक विशुद्धि रखना इसे एपणा समिति कहते हैं ॥५४०॥

उक्त प्रथम गवेपणामे उद्गम तथा उत्पादनका, दूसरी ग्रहणैपणामे ग्रहण विपयक तथा तीसरी उपयोगैपणा उपयोग करनेमे लगनेवाले सयोजन, अप्रमाण, अगारधूम और कारण इन चारो दोपोका सयमी साधुको उपयोगपूर्वक विशोधन करना चाहिए ॥५४१॥

ओघ उपधि अर्थात् साधारण उपकरण तथा औपग्रहिक अर्थात् विशेप उपकरण इन दोनो प्रकारके उपकरण या पात्र आदि सयमी जीवन-के उपयोगी साधनोको उठाते और रखते हुए मुनिको इस विधिका बराबर पालन करना चाहिए ॥५४२॥

सदैव पहले वस्तुको भले प्रकार आँखोंसे देखे फिर उसे झाडे और तत्पश्चात् ही उसे ले या रखे अथवा उपयोगमे लावे ॥५४३॥

मल, मूत्र, थूक, नाक तथा शरीरका मैल, अपथ्य आहार, उपधि, किसी साधुका शव, मृत शरीर अथवा उसी प्रकारकी अन्य कोई अनुपयोगी वस्तुको ऐसे स्थानमे छोड़े जो अनापात असलोक अर्थात् लोगोके आवा-गमनसे रहित हो जहाँ उसे छोडनेसे किसी दूसरेको वाधा न पहुँचे, जो समतल व दरार रहित हो एव जिसका तत्काल पूरा शोधन कर लिया गया हो, जो पर्याप्त विस्तीर्ण अर्थात् लम्वा-चौडा हो, आवादीसे दूर हो, गहरा हो, किसी निवासके समीप न हो, विल-हीन हो, त्रस प्राणियोसे रहित हो और जहाँ अन्न आदिके वीज न बोये गये हो। इनके अतिरिक्त निम्न प्रकारके तीन स्थानोमे उच्चारादिका विसर्जन न करे—एक तो जहाँ कोई आता-जाता न हो किन्तु दूरसे किसीकी दृष्टि वहाँ पड सकती हो, दूसरा आयात असलोक हो अर्थात् जहाँ मनुष्य पाससे निकल जाते हो तो भी अकस्मात् उनकी दृष्टि वहाँ न पड़ती हो और तीसरा जो आपात-सलोक हो अर्थात् जहाँ लोग आते-जाते भी हो और जहाँ सवकी निगाह भी पडती हो। इस प्रकार साधुपुरुष द्वारा साधने योग्य पाँच समितियो अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उच्चारादि-का सक्षेपमे व्याख्यान किया गया ॥५४८–५४७॥

कषाय निग्रह प्ररूपणा

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो कषाय कहलाते है। इनका यदि निग्रह न किया जाये तो ये वढते ही जाते है और वे सव मिलकर पुनर्जन्मरूपी वृक्षकी जडोको सीचते हैं ॥५४८॥

जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य क्रोधके वशीभूत होकर एक तप्त लोहेके गोलेको इस विचारसे उठा ले कि मै इससे अपने शत्रुको मारूँगा तो उससे उसका शत्रु जल पाये या नही किन्तु वह क्रोधी मनुष्य तो जल ही जाता है। उसी प्रकार क्रोधसे मनुष्य कलहके द्वारा पहले ही स्वय दग्ध हो जाता है और अपने आप तो निश्चित रूपसे क्लेश भोगता है दूसरेको दुख पहुँचा पाये या नही ॥५४९-५५०॥

रोगसे आकुलित हुआ मनुष्य नीला पड जाता है, हत-प्रभ और अरतिरूपी अग्निसे सन्तप्त हो जाता है। वह शीतमे भी पटकर ऐसा काँपता है जैसे मानो उसे भूत लग गया हो ॥५५१॥

भले ही कोई मनुष्य बड़ा लोकप्रिय रहा हो किन्तु क्रोधके आवेशमे आकर वह जगत्-भरके लिए द्वेष्य हो जाता है। क्रोधी मनुष्य अकार्य भी कर वैठता है जिससे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥५५२॥

पूज्य पुरुप भी कोपके कारण एक क्षणमे अपमानका भाजन वन जाता है और उस क्रोधके वशीभूत हुए मनुष्यका जगद्-विख्यात माहात्म्य विनष्ट हो जाता है ॥५५३॥

जिस प्रकार क्वाथको जलाकर पीछे स्वय अग्नि भी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार क्रोध मनुष्यका विनाश करके स्वय भी समाप्त हो जाता है ॥५५४॥

अभिमानी मनुष्य सभीके द्वेपका पात्र बन जाता है। वह कलह, भय, वैर व दुख पाता है और निश्चित रूपसे इस लोक और परलोकमे अपमानित होता है ॥५५५॥

इसके विपरीत जो कोई अभिमान नही करता वह सदैव स्वजनो तथा अन्य मनुष्योको भी प्रिय हो जाता है। वह इसी लोकमे ज्ञान भी प्राप्त करता है, यश और धन भी कमाता है तथा अपने सव कार्य भी सिद्ध कर लेता है ॥५५६॥

मृदुतासे काम लेनेवालेका कोई कार्य विगडने नही पाता। विनयके द्वारा मनुष्य इस लोक और परलोकमे सव प्रकारसे कल्याण प्राप्त करता है ॥५५७॥

जिस प्रकार करोडोकी धन-सम्पत्तिसे समृद्ध पुरुप भी वाण-विद्ध होकर शरीरका सुख नही पाता उसी प्रकार मायारूपी शल्यसे विद्ध हुआ महातपस्वी भी निर्वृति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति नही कर सकता ॥५५८॥

निकृति अर्थात् छल-कपटके दोपसे मनुष्य स्वजनोका भी द्वेष अविश्वास और अपमानका पात्र वनकर शीघ्र ही अन्तमे उनका शत्रु वन जाता है ॥५५९॥

मायाचारीके दोपसे थोडा-सा अपराध करनेवाला भी महान् अपराध-का भागी माना जाता है। माया एक ऐसा दोप है जो सहस्रो सत्योंके श्रेयको विनष्ट कर देता है ॥५६०॥

सच्चा तहेव मोसा य सच्चमोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य वय-गुत्ती चउव्विहा ।।५७९।।

सरंभ-समारंभे आरंभे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाण तु णियत्तेज्ज जयं जई ।।५८०।।

ठाणे णिसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे ।
उल्लंघण-पल्लंघणे इंदियाण य जुजणे ।।५८१।।

सरंभ समारंभे आरंभम्मि तहेव य ।
काय पवत्तमाणं तु णियत्तेज्ज जयं जई ।।५८२।।

मण-वच-काय-पउत्ती भिक्खू सावज्ज-कज्ज-संजुत्ता ।
खिप्पं णिवारयतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ।।५८३।।

जा रायादि-णियत्ती मणस्स जाणाहि त मणो-गुत्ती ।
अलियादि-णियत्ती वा मोणं वा होदि वचि-गुत्ती ।।५८४।।

काय-किरिया-णियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादि-णियत्ती वा सरीर-गुत्ती हवदि एसा ।।५८५।।

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अह व होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ।।५८६।।

तम्हा तिविहेण तुम णिच्च मण-वयण-काय-जोगेहिं ।
होहिसु समाहिद-मई णिरंतरं झाण-सज्झाए ।।५८७।।

भास विणय-विहूणं धम्म-विरोही विवज्जए वयण ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासति सप्पुरिसा ।।५८८।।

विकहा विसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति ।
धम्मे लद्ध-मदीया विकहा तिविहेण वज्जति ।।५८९।।

वचनगुप्ति भी चार प्रकार की है—सत्य वचनगुप्ति, असत्य वचनगुप्ति, सत्य-मृषा मिश्र वचनगुप्ति और असत्य-मृषा व्यवहार वचनगुप्ति ॥५७९॥

सयमीको चाहिए कि वह ऐसे वचन न बोले जिससे सरम्भ, समारम्भ, आरम्भमे-से एक भी क्रिया हो। वह यत्नपूर्वक ऐसे वचनोका निवारण करे ॥५८०॥

कायगुप्तिके पाँच प्रकार है—खडे होनेमे, बैठनेमे, लेटनेमे, नाली आदिको लाँघनेमे तथा पाँचो इन्द्रियोकी प्रवृत्तियो-व्यापारोमे ॥५८१॥

यदि सरम्भ, समारम्भ अथवा आरम्भमे-से कोई भी काय-क्रिया सम्पन्न हो जाती है तो सयमीको उचित है कि वह अपने कायको यत्नपूर्वक रोक रखे ॥५८२॥

दोषपूर्ण कार्यमे संलग्न होनेवाली मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको तुरन्त रोक लेनेवाला भिक्षु ही तीनो गुप्तियोसे युक्त होता है ॥५८३॥

मनकी रागादिक भावोसे निवृत्तिको ही मनोगुप्ति जानिए। असत्य वचन आदिसे निवृत्ति अथवा मौन धारण करना ही वचनगुप्ति है। शरीरकी क्रियाका निवारण तथा हिंसादि पाप क्रियाओका त्याग कायगुप्ति होती है ॥५८४–५८५॥

जिस प्रकार खेतकी रक्षा बाडीसे और नगरकी रक्षा खाई अथवा प्राकारसे होती है उसी प्रकार उक्त तीनो गुप्तियाँ साधुको पापसे बचानेवाली है ॥५८६॥

इसीलिए हे साधु पुरुषो, तुम कृत, कारित व अनुमोदित इन तीनो प्रकारोमे मन, वचन और कायके विषयमे सदैव सावधान रहते हुए आत्मध्यान व शास्त्र-स्वाध्यायमे अपने चित्तको लगाये रहो ॥५८७॥

विनय रहित भाषा धर्म विरोधी है। अतः ऐसे वचनोमे अपनेको बचाइए। किसीके पूछनेपर अथवा बिना पूछे सत्पुरुष ऐसे विनयहीन व धर्मके विपरीत वचन कदापि नही बोलते ॥५८८॥

धर्मशास्त्रके प्रतिकूल भाषण करनेवालोकी रागादि विषयक विकथाओका चिन्तन वे हृदयमे कभी नही आने देते। जिनकी बुद्धि धर्म परायण हो गयी है वे मन, वचन और काय इन तीनो प्रकारसे विकथाका निवारण करते है ॥५८९॥

कौत्कुच्य व कन्दर्पादिक हास, उल्लापन, खेल, मद, दर्प व हस्तवृत्ति इन क्रियाओंको मुनिजन न कभी स्वयं करते और न दूसरोंसे कराते हैं ॥५९०॥

इस प्रकार मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनोका स्वरूप कहा। अशुभ क्रियाओंसे सर्वप्रकार अपनेको बचाकर रखनेका नाम ही गुप्ति कहा गया है ॥५९१॥

इन्द्रिय-विजय-प्ररूपण

समाधिका इच्छुक तपस्वी-श्रमण इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषयोमे मनको न दौड़ाये और न अमनोज्ञ विषयोंपर द्वेष ही करे ॥५९२॥

चक्षु इन्द्रियका विषय रूपके ग्रहणको कहते हैं। जो रूप रागका हेतु है उसे मनोज्ञ कहते हैं तथा द्वेषके हेतुभूतको अमनोज्ञ। इन दोनोमे जो समभाव रखता है वही वीतराग है ॥५९३॥

जैसे दृष्टि लोलुपी पतंग रूप के रागमे आतुर हो अग्निमे जलकर आकस्मिक मृत्युको प्राप्त होता है वैसे ही रूपो मे तीव्र आसक्ति रखनेवाला जीव अकाल मृत्युको प्राप्त होता है ॥५९४॥

जो जीव मनोहर रूपमे एकान्त आसक्त हो जाता है वह अमनोहर रूप पर द्वेष करता है और इससे वह अज्ञानी जीव बहुत ही दुखसे पीडित होता है ऐसा जानकर विरागी मुनि ऐसे दोषमे लिप्त न हो ॥५९५॥

रूपसे विरक्त हुआ जीव शोकरहित होता है। और जैसे जलमे उत्पन्न हुआ कमलका पत्ता उससे अलिप्त ही रहता है वैसे ही संसारमे रहते हुए भी ऊपरके दुखसमूहकी परम्परासे वह लिप्त नही होता है ॥५९६॥

शब्दके ग्रहणको श्रोत्रेन्द्रिय कानका विषय कहते हैं। रागके हेतुभूत शब्दको मनोज्ञ और द्वेषके हेतुभूत शब्दको अमनोज्ञ कहते हैं। जो जीवात्मा इन दोनोमे समभाव रख सकता है वही वीतरागी है ॥५९७॥

जो जीव शब्दोंमे तीव्र आसक्ति रखता है वह संगीतके रागमे आसक्त हरिण मृगके समान मुग्ध होकर तथा स्वरके मिठासमें अतृप्त रहता हुआ अकाल मृत्युको प्राप्त होता है ॥५९८॥

मधुर शब्दकी आसक्तिसे मूर्च्छित हुआ जीव मनोज्ञ शब्दको प्राप्त करनेमे, उसका रक्षण करनेमें, उसके वियोगमे अथवा उसके नाशमे सुख कहाँ पा सकता है उनको भोग करते हुए भी उसको तृप्ति नही होती ॥५९९॥

परन्तु शब्दसे विरक्त हुआ जीव उस प्रकारके शोकसे मुक्त रहता है। और जैसे जलमे उत्पन्न हुआ कमलपत्र जलसे अलिप्त रहता है वैसे ही इस ससारमे रहता हुआ वह जीव बाह्य दुखोके समूहकी परम्परामे लिप्त नही होता है ॥६००॥

गन्ध यह घ्राणेन्द्रिय नाकका ग्राह्य विषय है। सुगन्ध राग तथा दुर्गन्ध द्वेषका कारण है। जो जीव इन दोनोमे समभाव रखता है वही वीतराग है ॥६०१॥

जो जीव गन्धमे तीव्र आसक्ति रखता है वह चन्दनादि औषधियोकी सुगन्धमे आसक्त होकर अपने बिलमे-से निकले हुए सर्पके समान अकाल मृत्युको प्राप्त होता है ॥६०२॥

परन्तु जो मनुष्य गन्धसे विरक्त रहता है वह शोकसे भी मुक्त रहता है। और जलमे उत्पन्न हुआ कमल-पत्र जिस प्रकार जलसे अलिप्त रहता है वैसे ही इस ससारके बीचमे रहनेपर भी वह उपर्युक्त दुखोकी परम्परासे लिप्त नही होता ॥६०३॥

जिह्वा द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयको रस कहते हैं। मनोज्ञ रस रागका हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेषका हेतु है। जो जीव इन दोनोमे समभाव रखता है वही वीतरागी है ॥६०४॥

जैसे रसका लोभी मच्छ मांसके लोभसे लोहेके काँटेमे फँस जाता है वैसे ही रसोमे तीव्र आसक्तिवाला जीव भी अकाल मृत्युको प्राप्त होता है ॥६०५॥

परन्तु जो जीव रससे विरक्त रहता है वह शोकसे भी मुक्त होता है। जिस प्रकार जलमे उत्पन्न हुआ कमलदल जलसे अलिप्त रहता है वैसे ही रससे विरक्त हुआ जीव इस संसारमे रहते हुए भी उपरोक्त दुखोकी परम्परामे लिप्त नही होता ॥६०६॥

काय द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयको स्पर्श कहते है। मनोज्ञ स्पर्श रसका हेतु है तथा अमनोज्ञ स्पर्श द्वेषका हेतु है। जो इन दोनोमे समभाव रख सकता है वही वीतराग है ॥६०७॥

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीय-जलावसण्णे गाहग्गहीए महिसे विवण्णे ॥६०८॥

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोह-परंपरेण।
ण लिप्पई भव-मज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं॥६०९॥

मणस्स भावं गहणं वयति तं राग-हेउं तु मणोण्णमाहु ।
तं दोस-हेउ अमणोण्णमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥६१०॥

भावाणुरत्तस्स णरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्ख णिव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख ॥६११॥

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पई भव-मज्झे वि संतो जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥६१२॥

एमिंदियत्था य मणस्स अत्था दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोव पि कयाइ ण वीयरागस्स करेंति किंचि ॥६१३॥

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था सद्दाइया तावइयप्पगारा।
ण तस्स सव्वे विमणोण्णयं वा णिव्वत्तयंति अमणोण्णयं वा ॥६१४॥

एवं ससंकप्प-विकप्पणासुं संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे असंकप्पयो तओ से पहीयए काम-गुणेसु तण्हा ॥६१५॥

स वीयरागो कय-सव्व-किच्चो खवेइ णाणावरणं खणेण ।
तहेव ज दंसणमावरेइ जं चतराय पकरेइ कम्मं ॥६१६॥

जो जीव स्पर्शोमे तीव्र आसक्ति रखता है वह वनमे स्थित तालाबके ठण्डे जलमे पड़े हुए और ग्राह द्वारा निगले हुए रागातुर भैंसेकी भाँति अकाल मृत्युको प्राप्त होता है ॥६०८॥

परन्तु जो जीव स्पर्शसे विरक्त रहता है वह शोकसे भी मुक्त रहता है और जैसे जलमे उत्पन्न हुआ कमलदल जलसे अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसारमे रहते हुए भी उपर्युक्त दुखोकी परम्परासे लिप्त नही होता ॥६०९॥

भाव यह मनका विषय है। मनोज्ञ भाव रसका हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेपका हेतु है। जो इन दोनोमे समभाव रख सकता है वही वीतराग है ॥६१०॥

इस प्रकार भावमे अनुरक्त हुए जीवको थोडा-सा भी सुख कहाँसे मिल सकता है जिस भावके पदार्थोको प्राप्त करनेमे उसने कष्ट भोगा उस भावके उपभोगमे भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुख ही उठाना पडता है ॥६११॥

परन्तु जो जीव भावसे विरक्त रह सकता है वह शोकसे भी मुक्त रहता है वैसे ही ससारमे रहते हुए भी उपरोक्त प्रकारके दुखोकी परम्परामे लिप्त नही होता ॥६१२॥

इस प्रकार इन्द्रियो तथा मनके विपय आसक्त जीवको केवल दुखके ही कारण होते है। वे ही विपय वीतरागी पुरुपको कदापि थोडा भी दुख नही पहुँचा सकते ॥६१३॥

जो विपय विकारोसे विरक्त है उन्हे इन्द्रियोके इस प्रकारके शब्दादि विपय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञताके भाव ही उत्पन्न नही कर सकते ॥६१४॥

इस प्रकार सयमके अनुष्ठानो द्वारा जीवको सकल्प-विकल्पोमे समता प्राप्त हो जाती है तथा आत्माकी शब्दादि विपयोके सकल्प न रहनेसे कामभोग सम्बन्धी तृष्णा विलकुल क्षीण हो जाती है ॥६१५॥

वह वीतरागी जीव कृत-कृत्य होकर ज्ञानावरणीय कर्मको क्षणमात्रमे खपा देता है और उसी तरह दर्शनावरणीय एव अन्तराय कर्मको विनष्ट कर देता है। इस प्रकार उसके समस्त घातिया कर्मोका नाश हो जाता है ॥६१६॥

मोहनीय एव अन्तराय कर्मोसे रहित हुआ वह निर्मल आत्मा जगत्के समस्त पदार्थोको जानने-समझने लगता है तथा पापके प्रवाहको रोककर शुक्ल-ध्यानकी समाधि प्राप्त कर सर्वथा शुद्ध हो जाता है और आयुके क्षय होनेपर मोक्षको प्राप्त होता है ॥६१७॥

जो दुख यावन्मात्र ससारी जीवोको पीड़ित कर रहा है उस सर्व दुखसे •तथा ससाररूपी अनादिकालीन रोगसे वह प्रशस्त जीवात्मा सर्वथा मुक्त हो जाता है और अपने मोक्षरूपी लक्ष्यकी प्राप्तिमे कृतार्थ होकर अनन्त सुखका भागी हो जाता है ॥६१८॥

तप प्ररूपण

भगवान् बोले—राग और द्वेषसे सचित किये हुए पापकर्मको भिक्षु जिस तप द्वारा क्षय करता है उसका अब मै उपदेश करता हूँ उसको तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥६१९॥

जैसे कोई बडा तालाब पानी आनेका मार्ग अवरुद्ध हो जानेसे तथा भीतरका पानी बाहर उलीचनेसे व सूर्यके ताप द्वारा क्रमश सुखाया जाता है वैसे ही सयमी पुरुषके नये पापकर्म भी व्रत द्वारा रोक दिये जाते हैं और पहलेके करोडो जन्मोसे सचित किया हुआ पाप तप द्वारा निर्जरित कर दिया जाता है ॥६२०–६२१॥

वह तप बाह्य तथा आभ्यन्तर रूपसे दो प्रकारका होता है। बाह्य तप छह प्रकारका कहा गया है और आभ्यन्तर तपके भी छह भेद है। इस प्रकार तप बारह प्रकार का होता है ॥६२२॥

वाह्य तपके छह भेद—अनशन, अवमोदर्य या ऊनोदर, रस परित्याग, वृत्ति-परिसख्यान, काय क्लेश और सलीनता अर्थात् ध्यान ॥६२३॥

अनशन भी दो प्रकारका होता है—इत्वरित अर्थात् नियत कालकी मर्यादा तकका उपवास और दूसरा मृत्युपर्यन्त सर्वथा निराहार उपवास। इसमे-से पहले प्रकारमे भोजन की तथा जीवनकी आकाक्षा विद्यमान है किन्तु दूसरेमे भोजन तथा जीवन दोनो ही की विरक्ति है ॥६२४॥

भक्त-प्रतिज्ञा, इगिनी, प्रायोपगमन तथा अन्य इसी प्रकारके जो मरण कहे गये हैं उन सबको जीवन व मरणकी आकाक्षासे रहित जानना चाहिए। विशेषार्थ—भक्त अर्थात् भोजन व आहारका प्रतिज्ञापूर्वक क्रमश त्याग करना भक्त-प्रतिज्ञा है। इगिनी अर्थात् इगितका अर्थ है शरीरकी नाना चेष्टाएँ जो साधु स्वय करता है और जिनसे उसके आन्तरिक भावोका पता चलता रहता है। प्रायोपगमनका शब्दार्थ नाना प्रकारसे किया गया पाया जाता है। किन्तु सबका अभिप्राय एक ऐसी समाधिकी अवस्थासे है जिसमे आहारका परित्याग करके साधु सर्वथा निश्चेष्ट व काष्ठवत् अचल अवस्था धारण करके प्राण-त्याग करता है। ऊनोदर तपके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्यायकी दृष्टिसे सक्षेपसे पाँच भेद कहे हैं ॥६३०-६३१॥

जिसका जितना आहार हो उसमे-से कमसे कम एक कौर भी घटा लेना यह द्रव्य ऊनोदर तप कहलाता है ॥६३२॥

एक पुरुषका प्राकृतिक आहार बत्तीस कवल या ग्रास प्रमाण होता है। उनमे-से एक कवल, दो कवल आदि प्रमाणसे कम ग्रहण करना यह अवमोदर्य या ऊनोदर तप है ॥६३३॥

उत्तम क्षमादि दश धर्मो, सामायिकादि छह आवश्यको, मन, वचन, कायके नियन्त्रणरूप योगो तथा ज्ञानादिके उपार्जनमे तथा इन्द्रियोकी दूपण वृत्तियोके निग्रहमे अवमोदर्य तपकी वृत्ति उपकारी होती हे ॥६३४॥

ग्राम-नगर, राजधानी, निगम, आकार, खानवाला प्रदेश, पल्ली, अटवीका मध्यगत प्रदेश, खेट जहाँ मिट्टीका परकोट हो, करवट छोटे-छोटे ग्रामोवाला प्रदेश, द्रोणमुख जल तथा स्थलवाला प्रदेश, पट्टन जहाँ सब दिशाओसे आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह, मडब चारो दिशाओमे अढाई कोस तक जहाँ ग्राम हो ऐसा प्रदेश, सवाह पर्वतके वीचमे जो ग्राम वसा हो, आश्रमपद जहाँ तपस्वियोके आश्रम हो, विहार जहाँ भिक्षु अधिक सख्यामे रहते हो, सन्निवेश थोडे-से झोपडोवाला प्रदेश, समाज, धर्मशालादि, घोप-ग्वालोका निवास स्थल, रेतके ऊँचे ढेरोका प्रदेश, सेना-छावनी-स्कन्धावार-कटक उतरनेका स्थल, मण्डी, सार्थवाहो-व्यापारियोके इकट्ठा होने या उतरनेका स्थल, सवर्त जहाँ भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण ले, कोट-दुर्गसे रक्षित प्रदेश, बाडा-बाडी लगाया हुआ प्रदेश, रथ या गाडियोके आने-जाने योग्य मार्ग तथा घर इनने प्रकारके क्षेत्रोमे-से भी मर्यादा करे कि मै आज एक, दो या तीन प्रकारके

दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु कालो माण मुणेयव्वं ॥६३८॥

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वानलंकिओ वा वि ।
अण्णयर-वयत्थो वा अण्णयरेणं व वत्थेणं ॥६३९॥

अण्णेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।
एवं चरमाणो खलु भावो माणं मुणेयव्वं ॥६४०॥

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ पज्जव-चरओ भवे भिक्खू ॥६४१॥

खीर दहि-सप्पिमाई पणीय पाण-भोयणं ।
परिवज्जणं रसाण तु भणियं रस-विवज्जणं ॥६४२॥

गोयर-पमाण-दायग-भायण-णाणाविहाण जं गहणं ।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स वुत्ति-परिसंखा ॥६४३॥

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जं काय-किलेस तमाहियं ॥६४४॥

एगंतमणावाए इत्थी-पसु-विवज्जिए ।
सयणासण-सेवणया विवित्त-सयणासणं ॥६४५॥

एसो बाहिरग-तवो समासेण वियाहिओ ।
अब्भितरं तवं एत्तो वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥६४६॥

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विओसग्गो एसो अब्भितरो तवो ॥६४७॥

पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्व-कय-पावं ।
पायच्छित्तं पत्तो त्ति तेण वुत्तं दसविधं तु ॥६४८॥

आलोयण-पडिकमणं उभय-विवेगो तहा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूल पि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥६४९॥

पोराण-कम्म-खवणं खिवणं णिज्जरण सोधमं धुयणं ।
पुच्छणमुच्छिवण छिंदणं ति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥६५०॥

दंसण-णाणे विणओ चरित्त-तव-ओवचरिओ विणओ ।
पंचविहो खलु विणओ पंचम-गइ-णायगो भणिओ ॥६५१॥

जे अत्थ-पज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहि सुद-णाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसण-विणओ हवदि एसो ॥६५२॥

णाणं सिक्खदि णाणं सुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णाणं णाण-विणीदो हवदि एसो ॥६५३॥

इंदिय-कसाय-पणिहाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्त-विणओ समासदो होइ णायव्वो ॥६५४॥

भत्ती तवोहियम्मि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं ।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्त-चारित्त-साहुस्स ॥६५५॥

प्रायश्चित्त, वह तप है जिसके द्वारा पूर्व-कृत पापका विशोधन होता है। प्राय. अर्थात् पाप चित्त अर्थात् विशुद्धिको जिसके द्वारा प्राप्त हो जाता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तर तप दश प्रकारका है ॥६४८॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित्तके दश भेद हैं ॥६४९॥

विशेषार्थ—नियम-विरुद्ध आचरणपर दृष्टि डालकर विचार करना यह आलोचन है। उस दूषित आचरणका परिमार्जन करना व गुरुसे कराना प्रतिक्रमण। दोनोको एक साथ क्रमश करना तदुभय है। ससक्त वस्तुओपर पृथक् रूपसे विचार करना विवेक है। कायोत्सर्गादि करना व्युत्सर्ग है। अनशनादि तप है। सीमित कालके लिए प्रव्रज्यासे वचित होना छेद है। पुन पूर्ववत् प्रव्रज्यामे लग जाना मूल है। नियत कालके लिए सघसे अपनेको पृथक् रखना परिहार है। तथा दोषको समझकर मूल गुणमे अपनी श्रद्धा दृढ करना श्रद्धान है ॥६४९॥

प्रायश्चित्तके अनेक नाम है जैसे पुराने कर्मोंका क्षमण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धोवन, पुछन, उत्क्षिपण, छिन्दन आदि ॥६५०॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार ये विनय नामक आभ्यन्तर तपके पॉच भेद हैं। यह विनयरूपी तप पचम गति अर्थात् निर्माण गति-का नायक—ले जानेवाला कहा गया है ॥६५१॥

जो द्रव्य और उनकी पर्याये जैसी जिनेन्द्र भगवान्ने शास्त्रमे उपदिष्ट की हैं उनको उसी प्रकार रुचिपूर्वक मानना यही मनुष्यका दर्शन-विनय है ॥६५२॥

ज्ञान की बातें सीखना, ज्ञान ही सुनना, ज्ञानका ही दूसरोको उपदेश देना तथा ज्ञानके ही आधारसे न्याय करना यही ज्ञान-विनयके पालन-कर्ताका लक्षण है ॥६५३॥

इन्द्रियो और कषायोके व्यापारोपर नियन्त्रण रखना मन, वचन, कायका गोपन तथा ईर्यादि समितियोका पालन करना यही सक्षेपमे चारित्र विनय जानना चाहिए ॥६५४॥

तपमे प्रवृत्त साधुओमे और उनकी तप-वृत्तिमे भक्ति रखना तथा अन्य किसीके प्रति घृणाका भाव नही रखना यही विनय तप हैं जिसका यथोक्त प्रकारसे परलोककी चिन्ता रखनेवाले साधु अभ्यास करते है ॥६५५॥

काइय-वाइय-माणसिओ त्ति य तिविहो दु पंचमो विणओ ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य ॥६५६॥

अब्भुट्ठाण किदियम्म णवण अंजलीए मुंडाणं ।
पच्चुग्गच्छणमेदे पच्छिदस्साणुसाधणं चेव ॥६५७॥

इच्चेवमाइओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइय-विणओ जहारिहं साधु-वग्गस्स ॥६५८॥

पूया-वयणं हिद-भासणं च मिद-भासणं च महुरं च ।
सुत्ताणुवीचि-वयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥६५९॥

उवसंत-वयणमगिहत्थ-वयणमकिरियमहीलणं वयणं ।
एसो वाइय-विणओ जहारिहं होदि कादव्वो ॥६६०॥

पाप-विसोत्तिय परिणाम-वज्जणं पिय-हिदे य परिणामो ।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ॥६६१॥

इह एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि ज गुरुणो ।
विरहम्मि वि वहिज्जदि आणा-णिद्देस-चरियाए ॥६६२॥

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणय-फलं सव्व-कल्लाणं ॥६६३॥

आयरियमाईए वेयावच्चम्मि दस-विहे ।
आसेवण जहा-थामं वेयावच्च तमाहियं ॥६६४॥

वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्म-कहा सज्झाओ पचहा भवे ॥६६५॥

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्ज सुसमाहिए ।
धम्म-सुक्काइं झाणाइं झामं तं तु बुहा वए ॥६६६॥

सोकर, बैठकर अथवा खड़े होकर जो भिक्षु कायाकी अन्य सब प्रवृत्ति छोड देता है, शरीरको हिलाता डुलाता नही है वह कायोत्सर्ग नामका छठा तप कहा गया है ॥६६७॥

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनो प्रकारके तपोका जो मुनि भले प्रकार आचरण करता है वही पण्डित साधक है और वह सासारिक समस्त बन्धनोंसे शीघ्र ही छूट जाता है ॥६६८॥

तप रहित ज्ञान और ज्ञान-विहीन तप ये दोनो ही लेशमात्र भी कृतार्थ नही कहे जा सकते। इसलिए ज्ञान और तपकी समान रूपसे साथ ही साधना करना चाहिए। ज्ञान और तपसे सयुक्त मुनि ही निर्माण प्राप्त करता है ॥६६९॥

धर्मांग प्ररूपण

धर्म दश प्रकारका है—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य ॥६७०॥

बहिरग क्रोधोत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी जो साधु पुरुष लेशमात्र भी क्रोध नही करता उसके उत्तम क्षमा नामक धर्म होता है ॥६७१॥

उत्तम मार्दव धर्म उस श्रमणके होता है जो अपने उत्तम कुलरूप, जाति, बुद्धि तथा श्रुत व शीलके विषयमे किंचित् भी गर्व नही करता ॥६७२॥

जो श्रमण कुटिल अर्थात् माया भावको त्यागकर निर्मल हृदयसे सदाचरण करता है उसके नियमसे आर्जव नामक तृतीय धर्म सम्भव होता है ॥६७३॥

दूसरोको सन्ताप उत्पन्न करनेवाले वचनको त्यागकर जो भिक्षु अपने व दूसरेको हितकारी वचन बोलता है उसके सत्य नामक चतुर्थ धर्म होता है ॥६७४॥

आकाक्षा लोभके भावको त्यागकर जो परम मुनि वैराग्य भावनामे प्रवृत्ति करता है उसीके पाँचवाँ शौच धर्म होता है ॥६७५॥

जो मुनि अहिंसादि व्रतो व ईर्यादि समितियोके पालन मन-वचन-कायकी कुप्रवृत्तियो रूप दण्डोके त्याग तथा इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करते हुए अपनी प्रवृत्ति करता है उसके नियमसे छठा धर्म सयम होता है ॥६७६॥

विसय-कसाय-विणिग्गह-भावं काऊण झाण-सिज्झीए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥६७७॥

णिव्वेग-तियं भावइ मोहं चइऊण सव्व-दव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिद जिणवरिंदेहिं ॥६७८॥

होऊण य णिस्संगो णिय-भावं णिग्गिहित्तु सुह-दुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सकिंचण्ण ॥६७९॥

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेर-भावं सुक्कदि खलु दुद्धर धरदि ॥६८०॥

भावणा-परूवणं

तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुयणिद-परिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ भविय-जणाणद-जणणीओ ॥६८१॥

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव-संवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ ॥६८२॥

इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणुभावणा णिच्च।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा उद्देसदो भणिया ॥६८३॥

जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणाम-सरूवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि ॥६८४॥

जम्म मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरा-सहियं।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥६८५॥

अथिरं परियण-सयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥६८६॥

इन्द्रिय विषयो तथा क्रोधादि कषायोके निग्रहका भाव रखते हुए जो साधु ध्यानमे तल्लीन होकर आत्माकी भावना करता है उसके नियमसे सप्तम धर्म तपकी सिद्धि होती है ॥६७७॥

जिन भगवान्ने कहा है कि जो साधु मन, वचन, काय इन तीनो प्रकारके निर्वेग अर्थात् समस्त अभिलाषाओके परि त्याग रूप सभी द्रव्यो-मे मोह छोड देता है उसके अष्टम धर्म त्याग होता है ॥६७८॥

नवाँ धर्म आकिंचन्य उस साधुके होता है जो निस्सग अर्थात् परिग्रहसे मुक्त होकर सुख व दुख देनेवाले भावोका निग्रह कर लेता तथा अनगार अवस्थामे निर्द्वन्द्व भावसे प्रवृत्ति करता है ॥६७९॥

जो पुरुष स्त्रियोके समस्त अगको देखकर उनमे दुर्भावसे मुक्त रहता है वही सुकृति दुर्घर ब्रह्मचर्य नामक दशवे धर्मको धारण करता है ॥६८०॥

भावना

तीन भुवनके तिलक तथा तीनो भुवनोके इन्द्रो द्वारा पूज्य देवकी वन्दना करके भव्य जीवोंको आनन्ददायक अनुप्रेक्षाओका वर्णन करता हूँ ॥६८१॥

१. अध्रुव, २. अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशु-चित्व, ७ आस्रव, ८. सवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधि-दुर्लभ और १२ धर्म—ये बारह अनुप्रेक्षाओके नाम कहे हैं। इनको समझकर नित्य प्रति मन, वचन और कायकी शुद्धि सहित इनकी भावना कीजिए ॥६८२-६८३॥

जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसका नियमसे नाश होता है। परिणमन स्वरूप होनेसे कुछ भी शाश्वत नही है ॥६८४॥

जन्म मरणसे सहित है, यौवन जरा सहित है, लक्ष्मी विनाश सहित है, इस प्रकार सब पदार्थ क्षणभगुर हैं ऐसा जानिए ॥६८५॥

जैसे नवीन मेघ तत्काल उदय होकर विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ससारमे परिवार, बन्धुवर्ग, पुत्र, स्त्री, भले मित्र, शरीरका लावण्य, गृह, गोधन इत्यादि समस्त पदार्थ अस्थिर हैं ॥६८६॥

एक्को जीवो जायदि एक्को गब्भम्मि गिण्हदे देहं ।
एक्को बालजुवाणो एक्को बुड्ढो जरा-गहिओ ॥६९७॥

एक्को रोई सोई एक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
एक्को मरदि वराओ णरय-दुहं सहदि एक्को वि ॥६९८॥

सव्वायरेण जाणह एक्कं जीव सरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होइ असेस खणे हेयं ॥६९९॥

अण्णं देहं गेण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्ण होदि कलत्त अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥७००॥

एवं बाहिर-दव्वं जाणदि रूवा हु अप्पणो भिण्णं ।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव य रच्चदे मूढो ॥७०१॥

जो जाणिऊण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं ।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्ज-करं तस्स अण्णत्त ॥७०२॥

सयल-कुहियाण पिंड किमि-कुल-कलिय अउव्व-दुग्गंधं ।
मल-मुत्ताणं गेहं देहं जाणेइ असुइमय ॥७०३॥

सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि ।
देह-णिमित्त जायदि घिणावणं सुट्ठ दुग्गंध ॥७०४॥

जो परदेह-विरत्तो णिय-देहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्प-सरूवें सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥७०५॥

मण-वयण-काय-जोया जीव-पएसाण फंदण-विसेसा ।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥७०६॥

कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मन्द-कसाया सच्छा तिव्व-कसाया असच्छा हु ॥७०७॥

जीव अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही गर्भमे देहको ग्रहण करता है, अकेला ही वालक व जवान होता है और अकेला ही जरा-ग्रसित वृद्ध होता है ॥६९७॥

अकेला ही जीव रोगी होता है, शोक करता है तथा अकेला ही मानसिक दुखसे तप्तायमान होता है। वेचारा अकेला ही मरता है और अकेला ही नरकके दुख भोगता है ॥६९८॥

हे भव्य, तुम सब प्रकारसे प्रयत्न करके जीवको शरीरसे भिन्न और अकेला जान लो। जीवको इस प्रकार अकेला जान लेनेपर समस्त परद्रव्य क्षणमात्रमे हेय हो जाते हैं॥६९९॥

यह जीव एक शरीर छोडकर कर्मानुसार दूसरा ग्रहण करता है तथा अन्य ही इसकी जननी तथा भार्या होती हैं और वे अन्य ही पुत्रको जन्म देते है ॥७००॥

इस प्रकार यह जीव सव बाह्य वस्तुओको आत्मासे भिन्न जानता है और जानता हुआ भी उन परद्रव्योमे ही राग करता है। यह इसकी मूर्खता है ॥७०१॥

जो कोई देहको जीवनके स्वरूपसे तत्त्वत भिन्न जानकर आत्म-स्वरूपका ही सेवन करता है उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है ॥७०२॥

हे भव्य, तू इस देहको अपवित्र जान। यह देह समस्त कुत्सित वस्तुओका पिण्ड है, कृमि-समूहोसे भरा हुआ है, अपूर्व दुर्गन्धमय है तथा मल-मूत्रका घर है ॥७०३॥

भले पवित्र, सुरस, सुगन्ध, मनोहर द्रव्य भी इस देहसे स्पर्श या उसमे प्रवेश करके अत्यन्त दुर्गन्धी हो जाते हैं ॥७०४॥

जो भव्य परदेह अर्थात् स्त्री आदिके शरीरसे विरक्त होकर अपने देहमे भी अनुराग नही करता और आत्मस्वरूपमे अनुरक्त होता है उसकी अशुचि भावना सार्थक है ॥७०५॥

मन, वचन और काय योग हैं जो जीव प्रदेशोके स्पन्दन-विशेष रूप हैं, वे ही आस्रव हैं जो मोह कर्मके उदय रूप मिथ्यात्व व कषाय सहित भी होते है और मोहके उदयसे रहित भी होते हैं ॥७०६॥

कर्म पुण्य तथा पाप रूपसे दो प्रकारका होता है। उसके कारण भी दो प्रकारके हैं—प्रशस्त और इतर अर्थात् अप्रशस्त। मन्द कषाय-रूप परिणाम प्रशस्त और तीव्र कषायरूप परिणाम अप्रशस्त कर्मास्रवके कारण है ॥७०७॥

सव्वत्थ वि पिय-वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खम-करणं।
सव्वेसिं गुण-गहणं मंद-कसायाण दिट्ठंता ॥७०८॥

अप्प-पसंसण-करणं पुज्जेसु वि दोस-गहण-सीलत्तं।
वेर-धरणं च सुइर तिव्व-कसायाण लिंगाणि ॥७०९॥

एदे मोहज-भावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयमिदि मण्णमाणो आसव-अणुपेहणं तस्स ॥७१०॥

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाण।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तह च्चेव ॥७११॥

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह परीसह-जओ य।
उक्किट्ठं चारित्तं सवर-हेदू विसेसेण ॥७१२॥

एदे संवर-हेदू वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो ॥७१३॥

जो पुण विसय-विरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ।
मणहर-विसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥७१४॥

बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥७१५॥

सव्वेसिं कम्माण सत्ति-विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडण कम्माणं णिज्जरा जाण ॥७१६॥

सा पुण दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वय-जुत्ताणं हवे विदिया ॥७१७॥

जो सम-सोक्ख-णिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥७१८॥

सव्वायासमणंतं तस्स य वहु-मज्झे संठिओ लोओ ।
सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरि-हरादीहिं ॥७१९॥

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंति ॥७२०॥

परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि ।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं ॥७२१॥

एवं लोय-सहावं जो झायदि उवसमेक्क-सब्भावो ।
सो खविय कम्म-पुंजं तस्सेव सिहामणी होदि ॥७२२॥

जीवो अणंत-कालं वसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो ।
तत्तो णीसरिऊणं पुढवी-कायादिओ होदि ॥७२३॥

रयणं व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होइ अइ दुलहं ।
मणुय-गईए झाणं मणुय-गईए वि णिव्वाणं ॥७२४॥

इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं वि ॥७२५॥

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥७२६॥

तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाण ।
पढमो वारह-भेओ दस-भेओ भासिओ बिदिओ ॥७२७॥

वारस अणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥७२८॥

जो मुनि समताभावरूप सुखमे लीन होकर आत्माका स्मरण करता है तथा इन्द्रियो और कषायोको जीत लेता है उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ॥७१८॥

समस्त आकाश अनन्त है। उसके ठीक मध्यमे लोक स्थित है। उसे न किसी हरि-हरादि देवने बनाया है और न धारण किया है ॥७१९॥

जहाँ जीव आदिक पदार्थ देखे जाते है उसे लोक कहते है। उसके शिखरपर अनन्त सिद्ध विराजमान है ॥७२०॥

लोकमे जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं वे समय-समय परिणमन अर्थात् परिवर्तन करते रहते है। उन्हीके परिणमनसे लोकका भी परिणमन होता है ऐसा जानिए ॥७२१॥

इस प्रकार लोकस्वरूपका जो कोई एकमात्र उपशम भावसे ध्यान करता है वह कर्म समूहोका नाश करके उसी लोकका शिखामणि अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥७२२॥

यह जीव अनादि कालसे अनन्त काल तक ससारकी निगोद योनियोमे वास करता है जहाँ एक शरीरमे अनन्त जीवोका वास पाया जाता है वहाँसे निकलकर वह पृथ्वीकायादिक पर्याय धारण करता है ॥७२३॥

जिस प्रकार समुद्रमे गिरे हुए रत्नका फिर पाना अत्यन्त दुर्लभ हैं उसी प्रकार मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान् दुर्लभ है। उस मनुष्यगतिमे ही शुभ ध्यान होता है और उसी मनुष्यगतिसे ही निर्वाण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥७२४॥

इस प्रकार इस मनुष्यगतिको दुर्लभसे भी अतिदुर्लभ जानकर और उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रको भी दुर्लभसे दुर्लभ समझकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोका बडा आदर कीजिए ॥७२५॥

जो समस्त लोक-अलोकको त्रिकाल-गोचर समस्त गुण पर्यायोसे सयुक्त प्रत्यक्ष जानता है वही सर्वज्ञ देव है ॥७२६॥

सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का है—एक सगासक्त अर्थात् गृहस्थोका और दूसरा असग अर्थात् मुनियो का। इनमे प्रथम गृहस्थका धर्म बारह भेद रूप है और दूसरा मुनिधर्म दश भेद रूप है ॥७२७॥

इन बारह अनुप्रेक्षाओका जिनागमके अनुसार वर्णन किया गया है। जो इनका पाठ करेगा या पाठको दूसरोसे सुनेगा वह परम सुख पायेगा ॥७२८॥

परीसह-परूवणं

परीसहाणं पविभत्ती कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥७२९॥

दिगिंछा-परिगए देहे तवस्सी भिक्खु थामवं ।
ण छिंदे ण छिंदावए ण पए ण पयावए ॥७३०॥

काली-पव्वंग-संकासे किसे धमणि-संतए ।
मायण्णे असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे ॥७३१॥

तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्ज-संजए ।
सीओदगं ण सेवेज्जा वियडस्सेसणं चरे ॥७३२॥

छिण्णा वाएसु पंथेसु आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्ख-मुहा दीणे तं तितिक्खे परीसहं ॥७३३॥

चरं तं विरयं लूहं सीयं फुसइ एगया ।
णाइवेलं मुणी गच्छे सोच्चाणं जिण-सासणं ॥७३४॥

ण मे णिवारण अत्थि छवित्ताणं ण विज्जइ ।
अहे तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खूण चिंतए ॥७३५॥

उसिणं परियावेण परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेणं सायं णो परिदेवए ॥७३६॥

उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाण णो वि पत्थए ।
गायं णो परिसिंचेज्जा ण वीएज्जा य अप्पयं ॥७३७॥

पुट्ठो य दंस-मसएहिं समरे व महामुणी ।
णागो संगाम-सीसे वा सूरो अभिहणे परं ॥७३८॥

ण संतसे ण वारेज्जा मणं पि ण पओसए ।
उवेहे ण हणे पाणे भुंजंते मससोणियं ॥७३९॥

परिच्चत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेल पवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा ॥७४०॥

सचेलगो सुखी होदि असुखी चावि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए ॥७४१॥

गामाणुगामं रीयंतं अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पवेसेज्जा तं तितिक्खे परीसहं ॥७४२॥

अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आय-रक्खिए।
धम्मारामे णिरारम्भे उवसते मुणी चरे ॥७४३॥

संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया सुकडं तस्स सामण्ण ॥७४४॥

एवमादाय मेहावी पंकभूया उ इत्थिओ।
णो ताहिं विणिहम्मेज्जा चरेज्जत्त-गवेसए ॥७४५॥

एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा णगरे वा वि णिगमे वा रायहाणिए ॥७४६॥

असमाणे चरे भिक्खू णेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्ते गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए ॥७४७॥

सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ णिसीएज्जा ण य वित्तासए परं ॥७४८॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए।
संका-भीओ ण गच्छेज्जा उट्ठित्ता अण्णमासणं ॥७४९॥

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
णाइवेलं विहम्मेज्जा पाव-दिट्ठी विहम्मइ ॥७५०॥

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणमदु वा पावयं।
किमेगराइं करिस्सइ एवं तत्थ हियासए ॥७५१॥

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं ण तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाण तम्हा भिक्खू ण संजले ॥७५२॥

सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा ण ताओ मणसीकरे ॥७५३॥

हओ ण संजले भिक्खू मणं पि ण पओसए।
तितिक्ख परमं णच्चा भिक्खू धम्मं समायरे ॥७५४॥

समणं संजयं दंतं हणेज्जा कोइ कत्थई।
णत्थि जीवस्स णासो त्ति एवं पेहेज्ज संजए ॥७५५॥

दुक्करं खलु भो णिच्चं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ णत्थि किंचि अजाइयं ॥७५६॥

गोयरग्ग-पविट्ठस्स पाणी णो सुप्पसारए।
सेओ अगार-वासो त्ति इइ भिक्खू ण चिंतए ॥७५७॥

परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा णाणुतप्पेज्ज पंडिए ॥७५८॥

सामर्थ्यवान् तपस्वी भिक्षुको यदि अनुकूल अथवा प्रतिकूल शय्या मिले तो वह कालातिक्रम कालधर्मकी मर्यादाका भग न करे क्योकि यह स्थान अच्छा है इसलिए यहाँ अधिक ठहरो यह स्थान बुरा है इसलिए यहाँसे जल्दी चलो ऐसी पापदृष्टि रखनेवाला साधु अन्तमे आचारमे शिथिल हो जाता है ॥७५०॥

प्रतिरिक्त अर्थात् शून्य व त्यक्त उपाश्रय पाकर चाहे वह अच्छा हो या बुरा इस एक रातके उपभोगसे भला मुझे क्या दुख पहुँच सकता है ऐसी भावना रखकर साधु वहाँ निवास करे ॥७५१॥

यदि कोई भिक्षुको आक्रोश, गालीगलौज आदि कठोर शब्द कहे तो साधु बदलेमे कठोर शब्द न कहे व क्रोध न करे क्योकि वैसा करनेसे वह भी मूर्खोकी कोटिमे आ जायेगा। इसलिए विज्ञ भिक्षु कोप न करे ॥७५२॥

कठोर, भयंकर तथा श्रवण आदि इन्द्रियोको कण्टकतुल्य वाणीको सुनकर भिक्षु चुपचाप मौन धारण करके उसकी उपेक्षा करे और उसको मनमे स्थान न दे ॥७५३॥

यदि कोई मारे-पीटे तो भी भिक्षु मनमे क्रोध न करे और न मारनेवालेके प्रति अल्प भी द्वेष रखे किन्तु तितिक्षा अर्थात् सहनशीलताको उत्तम धर्म मानकर धर्मका ही आचरण करे ॥७५४॥

सयमी और दान्त इन्द्रियोको दमन करनेवाले साधुको कोई कही मारे या वध करे तो भी वह मनमे इस आत्माका तो कभी नाश नही होता ऐसी भावना रखे और सयमका पालन करे ॥७५५॥

गृहत्यागी भिक्षुका तो जीवन नित्य बडा ही दुष्कर होता है क्योकि वह माँगकर ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। उसको विना माँगे कुछ भी प्राप्त हो नही सकता ॥७५६॥

भिक्षाके लिए गृहस्थके घर जाकर भिक्षुको अपना हाथ फैलाना पडता है और यह रुचिकर काम नही है इसलिए साधुपनेसे गृहस्थवास ही उत्तम है—ऐसा भिक्षु कभी न सोचे ॥७५७॥

गृहस्थोके यहाँ जुदी-जुदी जगह भोजन तैयार हो उसी समय साधु भिक्षाचारीके लिए जाये। वहाँ भिक्षा मिले या न मिले तो भी बुद्धिमान् भिक्षु खेदखिन्न न हो ॥७५८॥

आज मुझे भिक्षा नही मिली न सही, कल भिक्षा मिल जायेगी, एक दिन न मिलनेसे क्या हुआ जो साधु ऐसा पक्का विचार रखे उसे भिक्षा न मिलनेका कभी दुख न होगा ॥७५९॥

वेदनासे पीड़ित भिक्षु उत्पन्न हुए दुखको जानकर मनमे थोड़ी-सी भी दीनता न लाये, अपने चित्तको अविचलित रखे और तज्जन्य दुखको समभावसे सहन करे ॥७६०॥

भिक्षु औपधि रोगके इलाजकी इच्छा न करे किन्तु आत्मशोधक होकर शान्त रहे। स्वयं चिकित्सा न करे और न कराये इसीमे उसका सच्चा साधुत्व है ॥७६१॥

वस्त्र विना रहनेवाले तथा रूक्ष—रूखे शरीरवाले तपस्वी साधुको तृण-दर्भ आदिपर सोनेसे शरीरकी पीडा होती है या अतिताप पडनेसे अतुल वेदना होती है ऐसा जानकर भी तृणोके चुभनेसे भयभीत होकर साधु वस्त्रका सेवन नही करते ॥७६२-७६३॥

ग्रीष्म अथवा अन्य किसी ऋतुमे पसीना, पक या मैलसे मलिन शरीरवाला वुद्धिमान् भिक्षु सुखके लिए व्यग्र न बने, यह मैल कैसे दूर हो—ऐसी इच्छा न करे ॥७६४॥

अपने कर्मक्षयका इच्छुक भिक्षु अपने अनुपम आर्य धर्मको समझकर जवतक शरीरका नाश न हो तबतक मृत्युपर्यन्त शरीरपर मैल धारण करे ॥७६५॥

राजादिक या श्रीमन्त हमारा अभिवादन-वन्दन करे, हमारे सम्मानार्थ सम्मुख आकर खड़े हो अथवा भोजनादिका निमन्त्रण करे—इत्यादि प्रकारकी इच्छाएँ न करे तथा जो उसकी सेवा करते हैं उनसे अनुराग न करे ॥७६६॥

अल्प कपायवाला, अल्प इच्छावाला, अज्ञात गृहस्थोके यहाँ ही गोचरीके लिए जानेवाला तथा स्वादिष्ट पकवानोकी लोलुपतासे रहित प्रज्ञावान् भिक्षु रसोमे आसक्त न बने और न उनके न मिलनेसे खेद करे। अन्य किसी भिक्षुका उत्कर्प देखकर वह ईर्ष्यालु न वने ॥७६७॥

मैने अवश्य ही अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं जिससे यदि कोई मुझे कुछ पूछता है तो मै कुछ समझ नही पाता हूँ। अथवा उसका उत्तर नही दे पाता ॥७६८॥

परन्तु अब पीछे ज्ञान फलवाले कर्मोका उदय होगा—इस तरह कर्मके विपाकका चिन्तन कर भिक्षु ऐसे समयमे इस तरह मनको आश्वासन दे ॥७६९॥

मैं व्यर्थ ही मैथुनसे निवृत्त हुआ, गृहस्थाश्रम छोड़कर ब्रह्मचर्य धारण किया, व्यर्थ ही इन्द्रियोका दमन किया क्योकि धर्म कल्याणकारी है या अकल्याणकारी यह प्रत्यक्ष रूपमे तो कुछ दिखाई नही देता अर्थात् जब धर्मका फल प्रत्यक्ष नही दीखता है तो मैं कष्ट क्यो सहूँ ॥७७०॥

अथवा तपश्चर्या ग्रहण करके तथा साधुकी प्रतिमाको धारण करके विचरते हुए भी मेरा अज्ञान क्यो नही छूटता ॥७७१॥

इसलिए परलोक ही नही है या तपस्वीकी ऋद्धि अणिमा-गरिमा आदि भी कोई चीज नही हैं, मै साधुपन लेकर सचमुच ठगा गया इत्यादि प्रकारके विचार साधु मनमे कभी न लाये ॥७७२॥

वहुत-से तीर्थंकर हो गये, हो रहे है और होगे ऐसा जो कहा जाता है यह झूठ है—ऐसा विचार भिक्षु कभी न करे ॥७७३॥

इन सव परीपहोको काश्यप भगवान् महावीरने कहा है। इनमे-से किसी भी परीपह द्वारा कही भी पीडित होनेपर भिक्षु अपने सयमका घात न होने दे ॥७७४॥

ध्यान

जैन अभेद्य कवचसे सुरक्षित योद्धा सग्रामके अग्र भागमे युद्ध करता हुआ भी शत्रुओ द्वारा अलघ्य होता है व प्रहरणादि क्रियामे समर्थ होकर उन वैरियोको जीत लेता है उसी प्रकार कर्मोके क्षय करनेमे प्रवृत्त हुआ साधु—क्षपक धैर्यरूपी कवचसे सुसज्जित होकर परीषहरूपी शत्रुओके लिए अलघ्य हो जाता है तथा ध्यानमे समर्थ होकर उन वैरियोको जीत लेता हे ॥७७५-७७६॥

ध्यानमे तल्लीन पुरुप सदैव राग-द्वेप, इन्द्रिय-भय व कपायोको जीत लेता है तथा रति अरति व मोहका विनाश कर देता है ॥७७७॥

धर्मध्यान चार प्रकारका होता है और शुक्लध्यान भी चार प्रकारका होता है। ये ध्यान दुखोको दूर करनेवाले हैं। अतएव ससारके जन्म-जरा और मरण आदि दुखोसे भयभीत हुआ पुरुप इन दोनो ध्यानोका अभ्यास करता है ॥७७८॥

ण परीसहेहिं संताविओ वि झाइ अट्ट-रुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धं पि अट्ट-रुद्दा विणासंति ॥७७९॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा ।
ते सव्वे परियाणइ संथार-गओ तओ खवओ ॥७८०॥

अमणुण्ण-संपओगे इट्ठ-विओए परीसह-णिदाणे ।
अट्टं कसाय-सहियं झाणं भणियं समासेण ॥७८१॥

तेणिक्क-मोस-सार-क्खणेसु तह चेव छव्विधारंभे ।
रुद्द कसाय-सहियं झाणं भणियं समासेण ॥७८२॥

अवहट्ट अट्ट-रुद्दे महाभए सुग्गदीए पच्चूहे ।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागद-मदीओ ॥७८३॥

इंदिय-कसाय-जोग-णिरोधं इच्छ च णिज्जरं विउलं ।
चित्तस्स य वसियत्त मग्गादु अविप्पणासं च ॥७८४॥

किंचि वि दिट्ठिमुपात्तइत्तु झाणे णिरुद्ध-दिट्ठीओ ।
अप्पाणं हि सदिं सद्धित्ता संसार-मोक्खट्ठ ॥७८५॥

पच्चाहरित्तु विसएहिँ इंदियाइं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मण तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥७८६॥

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
आणापाय-विवाग-विचयं सठाण-विचयं च ॥७८७॥

क्षुधा-तृषा आदि परीषहोंसे सन्तापित होनेपर भी आर्त और रौद्र इन दो ध्यानोमे कभी प्रवृत्त न होवे क्योकि भले प्रकार तपश्चर्या करनेवाले साधुको भी आर्त और रौद्र ध्यान नष्ट कर डालते है ॥७७९॥

आर्तध्यान चार प्रकारका होता है और रौद्र ध्यान भी चार प्रकारका है। सस्तर अर्थात् शय्यागत क्षपक ध्यानके इन सब भेदोको पूर्णरूपसे जान ले। अमनोज्ञ अर्थात् अनिष्टकी प्राप्तिमे, इष्टके वियोगमे, परीषह अर्थात् दुखकी वेदनामे एव भोगो की अभिलाषामे जो कषाययुक्त भाव होता है वही सक्षेपमे चार प्रकारका आर्तध्यान कहा गया है ॥७८०-७८१॥

स्तैनिक्य अर्थात् चोरी, मृषा अर्थात् झूठ और स्वरक्षण अर्थात् अपनी धन-सम्पत्तिकी रक्षा इन कार्योमे तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एव द्वीन्द्रियादि त्रस इन छह कायके जीवोका घात करनेमे जो कषाययुक्त परिणाम होते है वही सक्षेपमे रौद्र ध्यान कहा गया है ॥७८२॥

धर्मका लक्षण इस प्रकार है—आर्जव अर्थात् निष्कपट, सरल भाव लघुता अर्थात् निष्परिग्रह अथवा अल्पपरिग्रह वृत्ति, मार्दव अर्थात् आठ प्रकारके मद रहित कोमल परिणाम, उपशम अर्थात् क्रोधादि कषाय रहित शान्त भाव तथा शास्त्रके उपदेश द्वारा अथवा स्वभावत पदार्थोके स्वरूप जाननेकी रुचि अर्थात् तत्त्व-जिज्ञासा। धर्मके इन लक्षणोसे युक्त मनुष्य ही धर्मध्यानका पात्र है ॥७८८॥

धर्मध्यानका अवलम्बन पॉच प्रकारका है—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन अर्थात् पाठकी पुनरावृत्ति या आम्नाय अनुप्रेक्षा अर्थात् पास किये हुए पदार्थ ज्ञानका अनुचिन्तन और शास्त्रसे अविरुद्ध धर्मकथा आदि सभी वातोका विचार ॥७८९॥

पाच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, छह द्रव्य तथा अन्य पदार्थोका स्वरूप जो आज्ञा अर्थात् शास्त्रोके वचनो द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है—यह सब आज्ञा-विचय नामक धर्मध्यानमे चिन्तन करने योग्य है ॥७९०॥

सुहम-किरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहि पण्णत्तं ।
बेंति चउत्थ सुक्कं जिणा समुछिण्ण-किरियं तु ॥७९७॥

दव्वाणि अणेयाइं तीहि वि जोगेहि जेण झायति ।
उवसंत-मोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणियं ॥७९८॥

जम्हा सुदं वियक्कं जम्हा पुव्वगद-अत्थ-कुसलो य ।
झायदि झाणं एदं सविदक्कं तेण तं झाणं ॥७९९॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।
तस्स य भावेण तय सुत्ते उत्त सवीयारं ॥८००॥

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीण-कसाओ झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥८०१॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगद-अत्थ-कुसलो य ।
झायदि झाणं एयं सवितक्कं तेण त झाण ॥८०२॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तय झाण अविचारमिदि वुत्त ॥८०३॥

अवितक्कमवीचारं सुहुम-किरिय-वंधणं तदिय-सुक्कं ।
सुहुमम्मि काय-जोगे भणिद त सव्व-भाव-गदं ॥८०४॥

अवितक्कमवीचार अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
झाण णिरुद्ध-जोग अपच्छिम उत्तस सुक्कं ॥८०५॥

त पुण णिरुद्ध-जोगो सरीर-तिय-णासण करेमाणो ।
सव्वण्हु अपडिवादि झायदि झाणं चरिम-सुक्कं ॥८०६॥

जिनका मोहनीय कर्म उपशान्त हो गया है, ऐसे साधु जो अनेक द्रव्योंका अपने मन-वचन-काय रूप तीनो योगो द्वारा ध्यान करते है इस कारण तो उसे पृथक्त्व कहते हैं। और चूँकि पूर्वगत श्रुतागका अर्थ करनेमे कुशल श्रुतकेवली साधु वितर्क अर्थात् श्रुतके आधारसे विचार करते है इसलिए यह ध्यान वितर्क रूप हे। एव अर्थ अर्थात् ध्येय द्रव्य या उसकी पर्याय विशेप व्यजन अर्थात् पदार्थको प्रकट करनेवाले वचन व योग अर्थात् मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति इनमे संक्रम अर्थात् एकसे दूसरे-पर ध्यानका परिवर्तन रूप विचार होता है इसलिए इस ध्यानको सूत्रमे वीचार भी कहा है। तात्पर्य यह कि जिस ध्यानमे द्रव्यसे पर्याय व पर्यायसे द्रव्य, एक श्रुतवचनसे दूसरे श्रुतवचन, एक योगसे दूसरे योगका ध्यान परिवर्तन होता रहता है वह पृथक्त्व-विर्तक-वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है ॥७९८-८००॥

चूँकि क्षीणकपाय साधु एक ही द्रव्य या द्रव्य पर्यायका किसी एक योग द्वारा ही ध्यान करता है इसलिए तो एकत्व कहलाता है। और पूर्वोक्त प्रकारसे श्रुतकेवली साधु श्रुतके आधारसे विचार करता है इसलिए वितर्क रूप है एव अर्थ, व्यजन व योगोका सक्रम नही होता इसलिए अवीचार है। तात्पर्य यह कि जिस ध्यानमे श्रुतचिन्तन अर्थात् वितर्क तो होता है किन्तु ध्यानका विपयभूत द्रव्य तथा चिन्तनका साधनभूत योग एक ही रहता है—उसका वीचार अर्थात् विपरिवर्तन नही होता—वह एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान है ॥८०१-८०३॥

जिस ध्यानमे न तो वितर्क है और न वीचार किन्तु केवल सूक्ष्म काय योग होनेसे सूक्ष्म क्रिया मात्रका अवलम्वन होता है तथापि ध्यानका विपय समस्त द्रव्य और पर्याय एक ही समय होते हैं वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान है ॥८०४॥

वितर्करहित, वीचाररहित, क्रियारहित, समस्त शीलोकी पूर्णताका सहभावी योगोके निरोध सहित जो ध्यान होता है वह अन्तिम व्युपरत-क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ उत्तम शुक्लध्यान है। इस अन्तिम न अप्रति-पाति अर्थात् कभी न छूटनेवाले शुक्लध्यानको योगोका निरोध तथा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनो शरीरोका नाश करनेवाला चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली करता है ॥८०५-८०६॥

एवं कसाय-जुद्धम्मि होइ खवयस्स आउहं झाणं ।
झाण-विहूणो खवओ रंगे व अणाउहो मल्लो ॥८०७॥

रण-भूमीए कवचं व कसाय-रणे तह हवे कवयं ।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥८०८॥

सामाइय-भावणा

सव्व-दुक्ख-प्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो ।
सद्दहे जिण-पण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥८०९॥

णमोत्थु धुद-पावाणं सिद्धाण च महेसिणं ।
संथडं पडिवज्जामि जहा केवलि-देसिय ॥८१०॥

ज किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥८११॥

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीय-वयण च ।
सव्वमदत्तादाण मेहूण परिग्गहं चेव ॥८१२॥

सम्म मे सव्व-भूदेसु वेरं मज्झ केण वि ।
आसाए वोसरित्ताण समाहि पडिवज्जए ॥८१३॥

खमामि सव्व-जीवाण सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्व-भूदेसु वेर मज्झ ण केण वि ॥८१४॥

राय-बंधं पदोस च हरिस दीण-भावयं ।
उस्सुगत्त भय सोगं रदिमरदि च वोसरे ॥८१५॥

इस प्रकार क्रोधादि कपायोके साथ युद्ध करनेमे क्षपकके लिए ध्यान ही आयुध है। ध्यान-रहित क्षपक उसी प्रकार असफल होता है जैसे विना आयुधका योद्धा ॥८०७॥

जैसे रणभूमिमे रक्षाका साधन कवच है उसी प्रकार कपायोके साथ युद्ध करनेमे ध्यान ही आत्मरक्षाका साधन है। और जिस प्रकार युद्धमे विना कवचका योद्धा नाशको प्राप्त होता है वैसे ही ध्यान किये विना क्षपक अपनेको कषायोसे वचा नही सकता ॥८०८॥

सामायिक भावना

मै नमन करता हूँ उन अर्हन्तो और सिद्धोको जो ससारके समस्त जन्म-मरणादि दुखोसे मुक्त हो गये हैं। मै उन्ही जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट धर्ममे श्रद्धा रखता हूँ तथा अपने समस्त पापकर्मोका प्रत्याख्यान अर्थात् मन, वचन, कायसे परित्यागकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥८०९॥

नमस्कार है मेरा उन सिद्ध महेशियोको जिन्होने अपने समस्त पाप-रूपी मलको धो डाला है। मै अव शुद्ध शय्याको ग्रहण करता हूँ किसकी समाधि हेतु जिनेन्द्र भगवान्‌ने देशना दी है ॥८१०॥

मैने जो कुछ दूपित आचरण किया हो उस सवका अपने मन, वचन, कायसे विसर्जन करता हूँ। तथा त्रियोग सहित विना भेद-भावके समस्त दोपोंसे रहित सामायिक चारित्रको ग्रहण करता हूँ ॥८११॥

मै समस्त प्राणियोके प्रति हिंसा भाव, असत्य वचन, अदत्तादान, विना स्वामी द्वारा दी हुई वस्तुके ग्रहण अर्थात् चोरी, मैथुन तथा परिग्रह-का भी परित्याग करता हूँ ॥८१२॥

समस्त प्राणियोंके प्रति मेरे हृदयमे समता व हितका भाव है। मेरा किसीसे कोई वैर नही है। आशा-तृष्णाका परित्याग करके अव मै समाधि ग्रहण करता हूँ ॥८१३॥

मै समस्त जीवोके अपराधोको क्षमा करता हूँ। सभी जीव मुझे भी क्षमा प्रदान करे। समस्त प्राणियोंके प्रति मेरे हृदयमे मैत्री भाव है, मुझे किसीसे कोई वैर नही ॥७१४॥

मै समस्त राग वन्धनोका, द्वेप और हर्पका, दीन भाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति व अरतिका विसर्जन करता हूँ ॥८१५॥

ममत्तिं पडिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥८१६॥

एगो मे सस्सदो अप्पा णाण-दंसण-लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग-लक्खणा ॥८१७॥

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं ।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतर-बाहिरं उवहिं ॥८१८॥

रागेण व दोसेण व जं मे अकदं हुयं पमादेण ।
जो मे किंचि वि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥८१९॥

संसार-चक्क-वालम्मि मए सव्वे वि पोग्गला बहुसो ।
आहारिया य परिणामिदा य ण य मे गया तित्ती ॥८२०॥

तिण-कट्ठेण व अग्गी लवण-समुद्दो णदी-सहस्सेहिं ।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदु काम-भोगेहिं ॥८२१॥

णाणं सरणं मज्झं दंसण-सरणं च चरिय-सरणं च ।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणं महावीरो ॥८२२॥

जा गदी अरिहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं जा गदी ।
जा गदी वीद-मोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥८२३॥

जं च काम-सुहं लोए जं च दिव्वं महासुहं ।
वीयराय-सुहस्सेदं णंत-भागं ण अग्घदे ॥८२४॥

उवसंहारो

एसा पसत्थ-भूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताए च परं लहदि मोक्खं ॥८२५॥

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पेच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥८२६॥

मै निर्ममत्व होकर ममत्व भावका त्याग करता हूँ। अब आत्मा ही मेरा एकमात्र आलम्बन है। शेप समस्त अपनत्वके भावोका परित्याग करता हूँ ॥८१६॥

ज्ञान और दर्शन गुणोसे युक्त यह मेरा एक आत्मा ही तो शाश्वत है, अनादि-निधन है। शेप समस्त भाव तो वाहरी है जिनका सदैव सयोग-वियोग होता रहता है ॥८१७॥

मै निन्दनीयकी निन्दा और गर्हणीयकी गर्हणा करता हूँ। मै अपनी समस्त वाह्य और आभ्यन्तर उपाधियोकी आलोचना करता हूँ ॥८१८॥

रागके अथवा द्वेपके वशीभूत होकर जो कुछ जानवूझकर न करनेपर भी प्रमादसे वन पडा हो अथवा अनुचित वचन मुखसे निकल गया हो उम सवकी मै क्षमा चाहता हूँ ॥८१९॥

इस ससाररूपी चक्रवालमे जितने पदार्थ हैं उनका मैने वहुत वार सग्रह किया और उपभोग किया तो भी उनसे मेरी तृप्ति नही हुई ॥८२०॥

जिस प्रकार तृण और काष्ठमे अग्निको तथा सहस्रो नदियोसे समुद्रको तृप्त नही किया जा सकता इसी प्रकार काम-भोगोसे इस जीवकी तृप्ति नही की जा सकती ॥८२१॥

मेरे लिए ज्ञान ही शरण है, दर्शन शरण है और चारित्र शरण है। तप और सयम भी शरण है तथा भगवान् महावीर शरण है ॥८२२॥

जो गति अरहन्त भगवन्तोकी, जो गति कृत-कृत्य सिद्धोकी तथा जो गति मोह-विजयी वीतरागोको प्राप्त हुई वही शाश्वत मोक्षकी गति मुझे भी मिले ॥८२३॥

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥८२७॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोह-रहियस्स ।
णिय-गुणमाराहेंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥८२८॥

दंसण-णाण-चरित्तं तिण्णि वि जाणेह परम-सद्धाए ।
ज आणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥८२९॥

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरण चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥८३०॥

जहा खरो चंदण-भार-वाही
भारस्स भागी ण हु चंदणस्स ।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो
णाणस्स भागी ण हु सुग्गईए ॥८३१॥

हयं णाण किया-हीण हया अण्णाणओ किया ।
पासतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ ॥८३२॥

संजोग-सिद्धीए फलं वयंति
ण हु एग-चक्केण रहो पयाइ ।
अधो य पंगू य वणे समिच्चा
ते संपउत्ता णयरं पविट्ठा ॥८३३॥

जीवादी-सद्दहण सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाण ।
रागादी-परिहरण चरण एसो दु मोक्ख-पहो ॥८३४॥

मोक्ख-पहे अप्पाण ठवेहि त चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु ॥८३५॥

सण णाण-चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
यग्गदो त्ति मदो सामण्ण तस्स पडिपुण्ण ॥८३६॥

सम्यग्दर्शनसे प्रेक्षण होता है और ज्ञान द्वारा द्रव्योके पर्यायोकी जानकारी प्राप्त होती है। सम्यक्त्वसे श्रद्धान उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य चारित्रमे आनेवाले दोषोका निवारण करता है ॥८२७॥

ये तीनो भाव अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोह रहित जीवको ही प्राप्त होते है और फिर वही जीव आत्मगुणोकी आराधना करता हुआ शीघ्र ही कर्मोका त्याग कर देता है ॥८२८॥

अतएव दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोका स्वरूप परम श्रद्धासे समझ लेना चाहिए। इसके जान लेनेपर ही योगी बिना विलम्बके निर्वाण प्राप्त कर लेते है ॥८२९॥

ज्ञान ही मनुष्य जीवनका सार है और उसी जीवनका सम्यक्त्व भी सार है। सम्यक्त्वसे ही सदाचरण होता है और चारित्रसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होती है ॥८३०॥

जैसे चन्दनके भारको ढोनेवाला खर उस भारका भागी तो होता है किन्तु चन्दनकी सुगन्ध और शीतलता का नही। उसी प्रकार चारित्रसे हीन ज्ञानी पुरुष ज्ञानका भागी तो अवश्य होता है किन्तु वह सद्गति प्राप्त नही कर पाता ॥८३१॥

क्रिया-हीन ज्ञान निष्फल है और क्रिया भी बिना ज्ञानके निरर्थक है। लँगडा मनुष्य देखते हुए भी कही जानेमे समर्थ नही होता तथा दौडनेमे समर्थ होता हुआ भी अन्धा मनुष्य अपने उद्दिष्ट स्थानपर नही पहुँच पाता ॥८३२॥

कारणोके सयोगकी सिद्धिसे ही उचित फलकी प्राप्ति हो सकती है। एक चक्के मात्रसे रथ गतिशील नही हो सकता। वनमे जब अन्धे और पगुमे सहयोग हुआ तभी वे वनसे निकलकर नगरमे पहुँच सके ॥८३३॥

जीवादि तत्त्वोमे श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, उन्हीं तत्त्वोका विधिवत् बोध ज्ञान है तथा राग-द्वेपादि भावोका परित्याग चारित्र है। इन तीनो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सयोग ही मोक्ष-का मार्ग है ॥८३४॥

हे भव्य जीव, इसी मोक्ष मार्गपर अपनेको स्थापित कर, उसीका ध्यान कर तथा उसीपर नित्य गमन करता जा। अन्य द्रव्योमे विचरण मत कर ॥८३५॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोमे एक साथ एकाग्रतासे जो कोई प्रवृत्त होता हे उसीका श्रमण भाव परिपूर्ण कहा जा सकता है ॥८३६॥

दंसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥८३७॥

दंसण-णाण-चरित्ता णिच्छय-णयेण होंति ण हु भिण्णा ।
जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तय जाण ॥८३८॥

जह णाम कोइ पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥८३९॥

एवं हि जीव-राया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्ख-कामेण ॥८४०॥

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयल-दोस-परिचत्तो ।
संसार-तरण-हेदु धम्मो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठ ॥८४१॥

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥८४२॥

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध-संपयोग-जुदो ।
पावदि णिव्वाण-सुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग-सुहं ॥८४३॥

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥८४४॥

अइसयमाद-समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्ण च सुहं सुद्धुवओग-प्पसिद्धाण ॥८४५॥

जरा जाव ण पीलेइ वाही जाव ण वड्ढइ ।
जाविंदिया ण हायंति ताव धम्मं समायरे ॥८४६॥

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देह-उडिं ।
इंदिय-बलं ण वयलइ ताव तुमं कुणहि अप्प-हियं ॥८४७॥

जा जा वच्चइ रयणी ण सा पडिणियत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ ॥८४८॥

जा जा वच्चइ रयणी ण सा पडिणियत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ ॥८४९॥

अणाइ-काल-प्पभवस्स एसो
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्ख-मग्गो ।
वियाहिओ जं समुवेच्च सत्ता
कमेण अच्चंत-सुही भवंति ॥८५०॥

सिवमजरामर-लिंगं अणोवममुत्तमं विमलमउलं ।
पत्ता वर-सिद्धि-सुहं जिण-भावण-भाविआ जीवा ।८५१॥

जिण वयणमोसहमिणं विसय-सुह-विरेयणं अमिद-भूयं ।
जर-मरण-वाहि-हरणं खय-करणं सव्व-दुक्खाणं ॥८५२॥

जिण-वयणे अणुरत्ता जिण वयणं जे करंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा ते होंति परित्त-संसारी ॥८५३॥

धण्णा ते भयवंता दंसण-णाणग्ग पवर-हत्थेहिं ।
विसम-मयरहर-पडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥८५४॥

ते मे तिहुवण-महिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
देंतु वर-भाव-सुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥८५५॥

इंद-सद-वंदियाणं तिहुयण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं ।
अंतातीद-गुणाणं णमो जिणाणं जिद-भवाणं ॥८५६॥

इसीलिए जबतक बुढापा आकर पीडा नही देने लगता, व्याधियोकी वृद्धि नही हो पायी तथा इन्द्रियाँ शिथिल नही हुई तबतक अर्थात् यौवन कालमे ही धर्माचरण कर लेना योग्य है ॥८४६॥

जवतक जरा उभरकर नही आती तथा रोगरूपी अग्नि इस देह-रूपी कुटीको जला नही डालती एव इन्द्रियोकी शक्ति क्षीण नही हुई तवतक हे जीव, तू अपना आत्म-हित कर ले ॥८४७॥

जो-जो रात्रि व्यतीत हो जाती है वह पुन लौटती नही। ये सब रात्रियाँ धर्म न करनेवालेके लिए निष्फल ही निकलती जाती हैं ॥८४८॥

जो रात्रि निकल जाती है वह फिर वापस नही आती। किन्तु धर्म-साधना करनेवालेके लिए वे रात्रियाँ सफल होती हुई जाती है ॥८४९॥

यह जो समस्त दुख जीवको अनादि कालसे सता रहा है उससे छुटकारा पानेका मार्ग यहाँ वतला दिया गया है। उसी धर्ममार्गका अवलम्वन करके जीव क्रमश अत्यन्त सुखी हो सकते है ॥८५०॥

जिन जीवोने उक्त जैन धर्मकी भावनाओको आत्मसात् कर लिया वे उस श्रेष्ठ सिद्धि सुखको प्राप्त हो गये जो कल्याणात्मक है, अजर और अमर है, अनुपम और उत्तम है तथा निर्मल और अतुल है ॥८५१॥

यह जिनेन्द्रकी वाणीरूप औषधि विषय-सुखोका विरेजन कराने-वाली है, अमृतरूप है, जरा-मरणरूपी व्याधियोका अपहरण करती है तथा समस्त दुखोकी विनाशक है ॥८५२॥

जो कोई इस जिनेन्द्र वाणीमे अनुराग करेगे व जिन भगवान्के वचनोका पालन करेगे वे निर्मल और क्लेश रहित होकर इस ससार-सागरके पार उतर जायेगे ॥८५३॥

धन्य है वे जिनेन्द्र भगवान् जिन्होने अपने दर्शन और ज्ञान रूपी प्रवल हाथोका अवलम्वन देकर इस ससाररूपी भयकर मकरग्रह अर्थात् नक्र-चक्रोसे परिपूर्ण समुद्रमे पडे हुए भव्य जीवोको पार उतारा ॥८५४॥

वे त्रिलोक-पूज्य सिद्ध शुद्ध निरजन और नित्य जिनेन्द्रदेव समस्त जीवोको दर्शन, ज्ञान और चारित्र विपयक उत्तम भाव-शुद्धि प्रदान करते है ॥८५५॥

जिनकी सैकडो इन्द्र वन्दना करते है, जिनके वचन त्रिभुवनके हित-कारी, मधुर और विशद है तथा अनन्त गुणधारी है एव जन्म-मरणरूपी समारको जीतनेवाले है उन जिनेन्द्र भगवान्को हमारा नमस्कार है॥८५६॥

❁